अनेकता में एकता

लेखक
परशुराम प्रसाद

प्रकाशक
नवभारत प्रकाशन
खजांची रोड, पटना—४

[मूल्य १.७५
१.५०

प्रकाशक
नवभारत प्रकाशन
खजांची रोड, पटना—४

मुद्रक
केसरवानी प्रेस,
प्रयाग

अनेकता में एकता

[The Story of unity in Diversity]
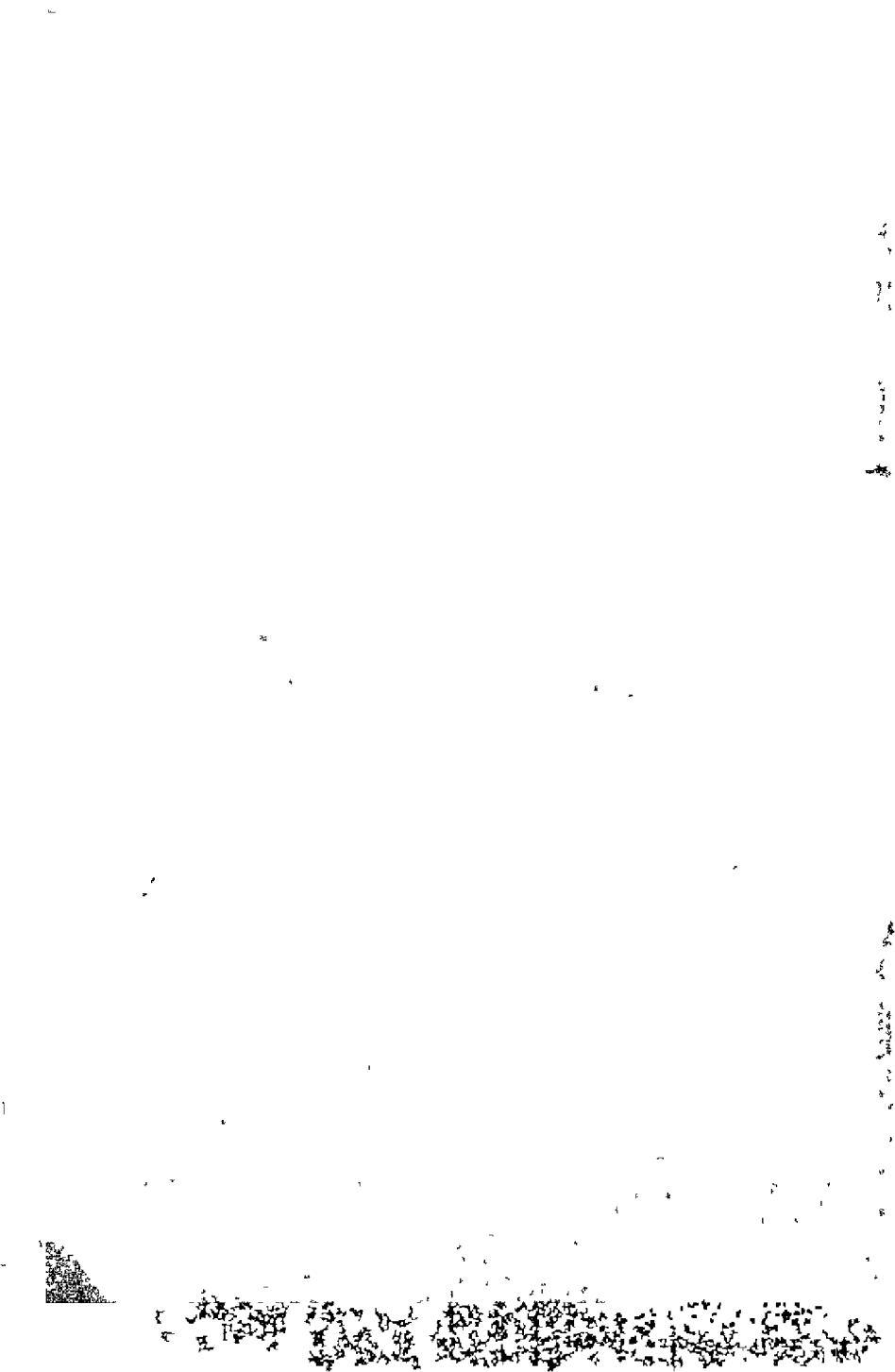
उन सब लोगों को

जो हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धुघाटी से ब्रह्मपुत्रघाटी तक फैली भारतभूमि की अनेकता में एकता स्थापित करनेवाली सबसे बड़ी शक्ति और उससे निर्मित एक भारतीय राष्ट्र और एक भारतीय संस्कृति की विचारधारा के पोषण, सवर्द्धन और प्रसारण के लिए संघर्षरत थे, है और होंगे।

—परशुराम प्रसाद

सहायक पुस्तकों की सूची

इस पुस्तक की रचना में निम्नलिखित पुस्तकों से सहायता ली गई है—

१—डिस्कवरी आफ इंडिया — श्री जवाहर लाल नेहरू

२—विश्व-इतिहास की झलक — श्री जवाहरलाल नेहरू

३—ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया — श्री नीलकंठ शास्त्री

४—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी — डा० सुनीतिकुमार चटर्जी

५—भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ — डा० सुनीतिकुमार चटर्जी

६—खंडित भारत — डा० राजेन्द्र प्रसाद

७—हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता — डा० बेनी प्रसाद

८—शैवमत — डा० यदुवंशी

९—वैदिक साहित्य — पं० राम गोविन्द द्विवेदी

१०—इंडियन इनहेरीटेन्स भाग २ और ३ — भारतीय विद्याभवन, बम्बई

११—ऐन ऐडवान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया भाग पहला और दूसरा — श्री आर० सी० मजुमदार आदि

१२—भारतीय गौरव — श्री वासुदेव उपाध्याय

१३—भारतीय संस्कृति — प्रो० शिवदत्त ज्ञानी एम० ए०

१४—भारतीय मूर्तिकला — श्री रायकृष्ण दास

१५—भारत की चित्रकला — श्री रायकृष्ण दास

१६—संस्कृति के चार अध्याय — श्री दिनकर

क्रम

पृष्ठ-संख्या

राष्ट्र-परिवार

"जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुः अनपस्फुरन्ती ॥"

विविध भाषाएँ बोलनेवाले और नानाधर्मों को मानेनवाले लोगों को एक ही घर के आत्मीयों के समान धारण करनेवाली राष्ट्रभूमि इस प्रकार प्रेम से रहनेवाले लोगो के लिए सहस्रो प्रकार की सम्पत्ति को धाराएँ बहा देगी, जैसे सेवा करनेवाले के लिए दुधारू गाय दूध की धाराएँ बहा देती है ।

अथर्ववेद १२-१-४५ ।

प्रस्तावना

श्री परशुराम प्रसाद की पुस्तक 'अनेकता मे एकता की कहानी' की पांडुलिपि मैने देखी और मुझे प्रसन्नता हुई। आज अपने देश में विद्यमान विषमता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो देश की एकता और समग्रता खंडित हो गई है। लेकिन यदि गहराई से देखें; तो वास्तव में ऐसी बात नही है। अनेकता मे एकता (unity in diversity) प्राचीन काल से हमारे देश की विशेषता रही है। यदि किसी उद्यान में केवल एक-से ही फूल खिलने लगें, उनमें वैचित्र्य न हो, तो उस उद्यान की शोभा न केवल सीमित हो जायगी, अपितु उसका आकर्षण और उपयोगिता भी घट जायगी। लेकिन विविधता होते हुए भी उस उद्यान की आत्मा एक है, इसमें कोई सन्देह नही। पर इसकी अनुभूति उद्यान की वाह्याकृति को देखकर ही नही हो सकती। उसके लिए सूक्ष्म दृष्टि की भी आवश्यकता है।

मुझे बड़ा हर्ष है कि भाई परशुरामजी ने अपनी इस पुस्तक में पाठकों को इस विषय पर अत्यन्त उपादेय सामग्री प्रदान की है। विविध क्षेत्रों में प्राचीन काल से अब तक वैचित्र्य होते हुए भी भारत किस प्रकार एक और अखंड है, यह बात ऐतिहासिक तथ्यों के प्रमाण देकर उन्होंने सिद्ध की है। आज के युग में ऐसे प्रकाशनों की उपयोगिता के बारे में दो मत नहीं हो सकते।

मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक का सर्वत्र आदर होगा और उसके अध्ययन से पाठक लाभान्वित होंगे।

पुस्तक की भाषा बडी ही सरल और सुबोध है और उसकी सामग्री के सकलन मे लेखक ने निस्सदेह बडा परिश्रम किया है। तदर्थ मै उन्हे बधाई देता हूँ।

यशपाल जैन

संपादक : जीवन-साहित्य

लेखक का निवेदन

विद्यार्थी-जीवन मे, स्वतंत्रता-आन्दोलन के दिनों में, किसी सभा या जलूस में "वन्दे मातरम्" का नारा यों ही बिना इसका अर्थ जाने-समझे लगाया करता या इस तरह की किसी सभा अथवा जुलूस से इस नारे की ध्वनि सुनकर अनायास ही आत्मा स्पन्दित हो उठती, शरीर मे एक चमक-सी दौड जाती और मन उद्वेलित हो जाता। उस समय हिमालय से कन्या कुमारी और सिन्धुघाटी से ब्रह्मपुत्र घाटी तक प्रतिष्ठापित सुजला सुफला-शस्यश्यामला भारत-माता की विराट् मूर्त्ति का किंचित भी भान नही था। हाँ, एक भावना उमड़ती थी, एक आभास-सा मिलता था कि हमारा देश भारत है, वह परतंत्र है और उसको स्वतंत्र करना है। दिन बीतते गये, उम्र बढ़ती गई, ज्ञान-चक्षु खुलते गये और उसके साथ-साथ मै चकित विस्मित भारतमाता की विराट् मूर्ति के विराट्-दर्शन करने लगा। बड़े-बड़े साहित्यकारों, दार्शनिकों, राष्ट्र-नायकों और महापुरुषों की रचनाओं एवं वाणियों को पढ़ते-सुनते-गुनते मन में यह बैठ गया कि आसेतु हिमांचल भारत वसुन्धरा एक है, अखंड है, सनातन और विश्ववन्द्य है। यह भी जाना, सुना, देखा और समझा कि हमारे इस देश की एक अद्भुत विशेषता है और वह है "अनेकता मे एकता"। यह एक महासागर है जिसमें नाना धर्म, भाषा और विचार-आचार वाली नाना जातियाँ अनेक नदियों की तरह महानदियों से समाहित होती रही है। इस देश के असंख्य

विविध धर्म, भाषा, जाति-युक्त नर-नारियों को सनातन काल से एक भावात्मक, एक रागात्मक, एक सांस्कृतिक सामासिकता की भावना ने एक सूत्र मे पिरोए रखा है।

कालक्रम से देश विदेशी शासन से मुक्त हुआ और साथ ही खंडित भी। विभाजन की इस अप्रत्याशित घटना ने मेरी अखंड और एक भारत की भावना को झकझोर दिया। पर इस घटना से अभिभूत मन को यह समझाकर शीतल किया कि यदि दूसरा भाई अलग ही रहना चाहे तो ठीक है, ऐसा ही हो। हम भी तो निश्चिन्त रहेगे, समस्याएँ कम हो जाएँगी और सीमित दायरे मे अधिक ठोस निर्माण का अवसर मिलेगा। स्व० सरदार वल्लभ भाई पटेल के सफल नेतृत्व मे जब सभी देशी राज्य गणतंत्र भारत के अन्दर सिमट कर एकाकार हो गये, तो इस दृष्टिकोण को बल मिला और विभाजन की कसक मिट-सी गई। कालचक्र द्रुतगति से चलता गया और फिर नये-नये दृश्य देखने को मिले। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति ने सिर उठाना शुरू किया। प्रान्तवाद, भाषावाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद (जैसे दक्षिण भारत और उत्तर भारत के पृथकत्व की प्रवृत्ति) के बीज अंकुरित होने लगे, जो परतन्त्रता काल में सूख-से गये थे। इसके शमनार्थ राज्य सीमा-पुनर्निर्धारण-आयोग निर्मित हुआ और उसके सुझावो के अनुसार राज्यों का पुनर्गठन भी हो गया। पर मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। आज कभी राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर भारतवासी तू-तू-मैं-मैं चक्रव्यूह मे उलझते दिखाई पड़ते है, तो कभी पंजाबी

सूबे की माँग के नारे सुनाई पडते है। आसाम की घटना किस भविष्य की ओर संकेत कर रही है ? लगता है जैसे भारतवासी अपनी सास्कृतिक विरासत और गरिमा को तिलांजलि देकर भारत-माता के विराट रूप का खंड-खंड करने पर तुल गये हैं। नेताओ के भगीरथ प्रयास और सहस्रों युवक-युवतियो के त्याग-बलिदान के वरदान स्वरूप स्वतंत्र हुआ यह आसेतु हिमाचल देश कुछ प्रतिक्रियावादी लोगो की हठवादिता के कारण फिर टुकड़े-टुकड़े होकर गलित गौरव होना चाहता है। लेखक के लिए यह स्थिति असह्य हो उठी। उसकी आत्मा तड़प उठी, तिलमिला उठी और फलस्वरूप इस पुस्तक "अनेकता में एकता की कहानी" की सृष्टि हुई। इस पुस्तक की रचना मे मेरा एक ही उद्देश्य है और वह यह है कि भारत की नयी पीढी के उदीयमान विद्यार्थी-समाज तक एक भारत देश, एक भारतीय राष्ट्र और एक भारतीय संस्कृति का सन्देश यह पुस्तक पहुँचाये। यदि इस कार्य मे यह पुस्तक कुछ भी सहायता पहुँचा सकी, तो मै अपना परिश्रम सफल मानूँगा।

अब मै इस पुस्तक मे वर्णित विषय की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना चाहता हूँ। जिन पुस्तकों से मैंने इसके लिखने मे सहायता ली है, उनकी सूची इसमें दे दी गई है। वास्तव में भारतीय संस्कृति के महासागर का मन्थन मेरे जैसे अल्पज्ञ का काम नही है। फिर भी हिन्दी में इस विषय पर इस दृष्टिकोण से विद्यार्थियों के लिए लिखी गई पुस्तक का अभाव देखकर ही मैंने यह दुस्साहस किया। आशा है, विद्वान् और विशेषज्ञ इस पुस्तक को
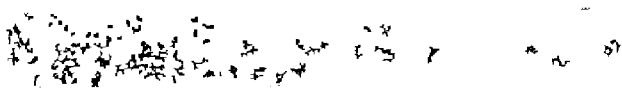
त्रुटियो पर ध्यान न देकर इसकी रचना के पीछे जो भावना है, उमके प्रति सहानुभूति दिखायेगे। मभव है, विद्वानो के अनुमार इस पुस्तक की कुछ स्थापनाएँ आनुमानिक और अर्द्धसत्य हो, पर यदि इसमे कुछ भी तथ्य हो, तो उनसे भी विद्यार्थी-समाज का लाभ ही होगा।

—परशुराम प्रसाद

भौगोलिक एकता की कहानी

१

आसेतु हिमांचल

★

एशिया के मानचित्र पर दृष्टि डालिए । महान हिमालय पर्वत से दक्षिण टेढ़ा-मेढ़ा चार भुजावाला भारतवर्ष फैला दिखाई पड़ेगा । "चतुःसंस्थान संस्थितम्" का उल्लेख प्राचीन भौगोलिकों ने भी किया है । पश्चिम में सुलेमान और किरथार की पर्वत-श्रेणियाँ इस प्रायद्वीप को ईरान की ऊँची भूमि से अलग करती हैं । पूर्व में आसाम की पटकोई और लुशाई तथा चटगाँव की पहाड़ियों ने इसे इरावदी की जंगली घाटी से विभक्त कर दिया है । दक्षिण में तीन ओर से वंग, अरब और हिन्द महासागर इसे घेरे

ए हैं। इस प्रकार महान् धनुषाकार हिमवान और समुद्रों के बीच । एक अलग अकेला भारत का उप महादेश किसी दार्शनिक की भाँति अनेक नदियों, मैदानों, पहाड़ियों और रेगिस्तानों के विचार-जाल मे उलझा हुआ प्रतीत होता है। इसकी इस एक
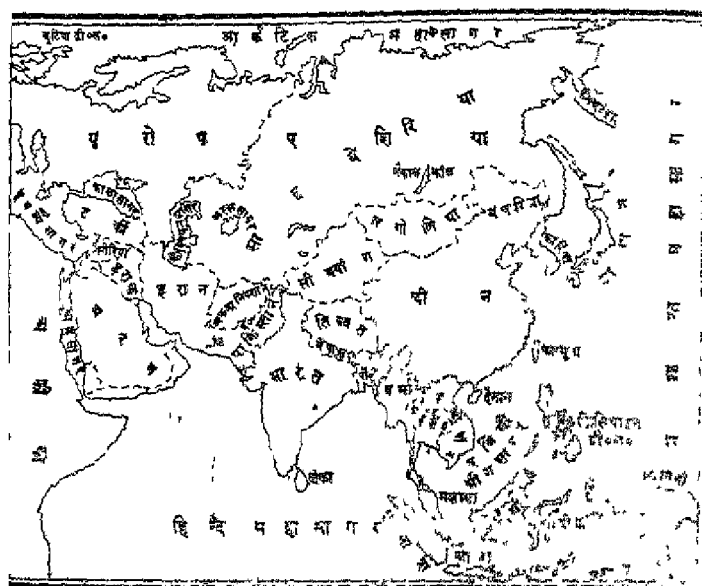
धातु संस्थान संस्थितम् वाले भारत महादेश की भौगोलिक स्थिति

भौगोलिक इकाई के अस्तित्व का समर्थन 'विष्णु पुराण' के निम्नलिखित श्लोक से भी होता है :—

"उत्तरम् यत् समुद्रस्य
हिमाद्रे श्चैव दक्षिणम्
वर्षम् तद भारतम् नाम
भारती यत्र सन्तति. ।"

प्रकृति के हाथों एक अखंड आकार-प्रकार के साँचे में ढाला गया यह देश किसी को भी बरबस आकर्षित कर सकता है। आज तक किसी ने भी इसकी भौगोलिक अखंडता और एकता को अस्वीकार नहीं किया है। भूगोल के प्रसिद्ध विद्वान चिजोम ने कहा है, कि संसार में कोई देश नहीं है, जो पड़ोसी देशों से इतना भिन्न हो, जितना भारत। इसी प्रकार अनेक अधिकारी विद्वानों ने इसकी भौगोलिक एकता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। यहाँ तक कि भारत से अलग पाकिस्तान के निर्माण के कट्टर समर्थकों ने भी कभी पाकिस्तान सहित भारत को एक अखंड भौगोलिक इकाई के तथ्य को अस्वीकार करने का साहस नहीं किया। प्रबल पाकिस्तान समर्थक एफ० ए० खाँ दुर्रानी को भी भारत की भौगोलिक एकता का समर्थन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दि मीनिंग ऑफ पाकिस्तान" में करना पड़ा।

आजकल हम भारत को चार प्राकृतिक भागों में बाँटते हैं—

(१) हिमालय का पहाड़ी हिस्सा।

(२) गंगा-सिन्धु का समतल मैदान।

(३) दैकन और

(४) पूर्वी और पश्चिमी घाट पहाड़ों का हिस्सा।

भौगोलिक बनावट को देखते हुए यह बिलकुल स्वाभाविक बँटवारा है। प्राचीन बौद्धसाहित्य में भी इस प्रकार के प्राकृतिक बँटवारे का उल्लेख मिलता है उसके अनुसार भारत पाँच हिस्सों में बँटा हुआ था —

(१) सरस्वती नदी से राजमहल पहाड़ी तक फैला हुआ मध्य देश; जिसका पश्चिमी हिस्सा ब्रह्मर्षि देश कहलाता था। यह पूरा भाग मिलकर आर्यावर्त्त बोला जाता था।

(२) उत्तरापथ या उदीच्य (उत्तर-पश्चिमी भारत)।

(३) अपरान्त या प्रातीच्य।

(४) दक्षिणापथ, और

(५) पूर्व देश या प्राच्य।

उत्तरापथ का प्रयोग कभी-कभी सारे उत्तरी भारत के लिए हुआ है। दक्षिणापथ कभी-कभी कृष्णा नदी के उत्तरी भाग को और सुदूर दक्षिण को तामिलकम या तामिल देश कहा गया है। पुराणों मे इन पाँच विभागों के अलावा पर्वताश्रयीन या हिमालयप्रदेश और विन्ध्याचल श्रेणी का भी उल्लेख है। इन बँटवारों से यह सिद्ध होता है कि एक अखिल भारत की कल्पना बहुत पुरानी है। एकता का भाव शुरू से ही यहाँ मौजूद रहा है।

पर जहाँ भूगोल ने इसको एक और अखंड बनाने का इतना सामान जुटा दिया है वहाँ कुछ ऐसे सामान भी है, जो इसमें बाधक जान पड़ते है। सतपुरा और विन्ध्याचल पहाड़ देश के बीच में खड़े है। ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे इनसे देश उत्तर और दक्षिण दो भागो मे बँट गया है। पर ऐसा केवल ऊपर से दिखाई पड़ता है। यह ठीक है—इस कारण उत्तर, दक्षिण मे कुछ भेद जरूर हो गया है। जाति का कुछ अन्तर बन गया और भाषाएँ भी कुछ

भिन्न हो गई। राजनैतिक इतिहास भी कुछ अलग रास्ते पर चला। पर फिर भी दोनों में मौलिक दृष्टि से एकता बराबर मौजूद रही है। धर्म का वही सिद्धान्त दोनों ओर प्रचलित रहा। जीवन के प्रति एक-सी ही दृष्टि रही। संस्कृत और पाली दोनों का पठन-पाठन वैसा ही रहा। दोनों एक दूसरे से खूब व्यापार करते रहे। ई० पू० चौथी सदी के बाद दोनों कई बार घनिष्ट राजनैतिक बन्धन में बँधे।

इस देश की विशालता को भी एकता के रास्ते में बाधक कहा गया है। हिमालय से समुद्र तक फैली हजार योजन की यह भूमि है। यह रूस को छोड़कर लगभग पूरे यूरोप के बराबर और इंगलैंड से करीब-करीब बीस गुना बड़ा है। इसमें बड़े से-बड़े पहाड़, दूर तक फैले हुए हरे-भरे उपजाऊ मैदान घनघोर जंगल और बियाबान रेगिस्तान पाये जाते हैं। पुराने समय में जब आने-जाने की कोई सुविधा नहीं थी, एक हिस्सा दूसरे से प्रायः अछूता रहा। लोग एक जगह सीमित रहे अलग-अलग आबहवा के कारण उनमें अलग-अलग जीवन का ढंग बना। जो कुछ भी हो, भौगोलिक एकता के रास्ते की इन छोटी-मोटी बाधाओं पर भारतीयों ने कभी विशेष ध्यान नहीं दिया। देश के अन्तिम छोरों पर तीर्थों की स्थापना करके और बड़े-बड़े मेलों का आयोजन करके वे निरन्तर आपस में घुलते-मिलते रहे। यदि कभी इन बाधाओं से एकता का बन्धन ढीला-सा पड़ा भी तो सांस्कृतिक एकता के दूसरे मजबूत धागे

इन्हे जोर से कस दिया। आज तो विज्ञान ने समय और दूरी का झमेला दूर कर दिया है। काशी से वायुयान पर बैठकर हम रामेश्वरम चन्द घटो मे जा सकते है। उसी प्रकार मद्रास का कोई भाई आसाम के अपने किसी आसामी मित्र से चन्द घटो मे गले-गले मिल सकता है।

इसलिए हमारे देश की विशालता आज हमारे लिए ईश्वर की बहुत बडी देन है। आने-जाने की आपार दिक्कतों मे भी हमने हिमालय से सुदूर दक्षिण और सुदूर दक्षिण से हिमालय तक बार बार एकछत्र राज्य क़ायम किया है। जब-जब ऐसा हुआ, ससार में हमारी तूती बोली। इतिहास मे हमारा नाम सोने के अक्षरो मे लिखा गया। सयोजन की हमारी यह भावना अनेकता मे एकता का जीता-जागता प्रमाण है। हमारी आँखों के सामने अमेरिका और रूस अपनी विविधता और विशालता के बावजूद संसार के नेता बने हुए हैं। फिर हमारा क्या कहना? हम चौवालिस, करोड़ भारतवासी तो एक महान् प्राचीन देश और संस्कृति की देन और प्रतीक है। देवताओ ने भी इस देश की महिमा का गान गौरव के साथ किया है :—

"गायन्ति देवा किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते,
भवन्ति भू या. पुरुष. सुरत्वात्।"

विष्णु पुराण
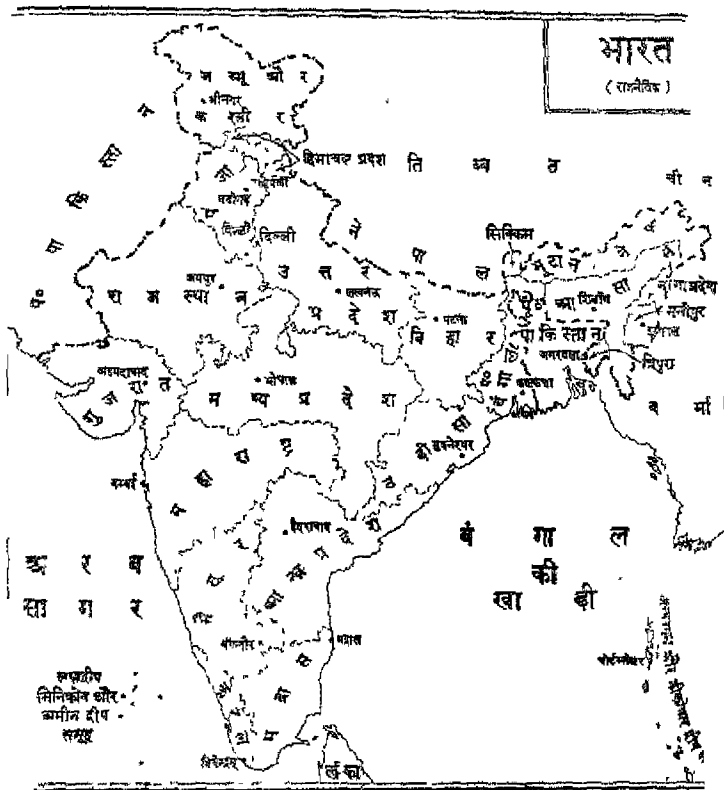
आसेतु हिमाचल-वर्तमान भारत

नामों की एकता की कहानी

२

[जम्बूद्वीपे भारतवर्षे]

पुराणों के अनुसार पहले यह पृथ्वी सात महाद्वीपों में बँटी थी—जम्बूद्वीप, लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप और पुस्कर द्वीप। एक ही केन्द्र वाले ये सब द्वीप पानी से घिरे हुए थे। जम्बूद्वीप इन सबका सबसे भीतरी भाग था। इस जम्बूद्वीप में सात वर्ष थे—हरि वर्ष, केतुमाल वर्ष, रम्यक वर्ष, हिरण्य वर्ष, किंपुरुष वर्ष, इलावृत्त वर्ष और भारत वर्ष। जम्बूद्वीप की सीमा क्या थी, ठीक-ठीक पता नहीं। बौद्ध साहित्य के अनुसार चीन के बाहर इसका प्रयोग एशिया के उस हिस्से के

लिए होता था, जिसमे बड़ा मौर्य साम्राज्य फैला हुआ था मोहन-जोदड़ो की खुदाई ने यह सिद्ध कर दिया है कि द्राविडो की सभ्यता आर्यों से बढ़-चढ़ कर थी। द्राविड़ मोसेपेटोमिया से
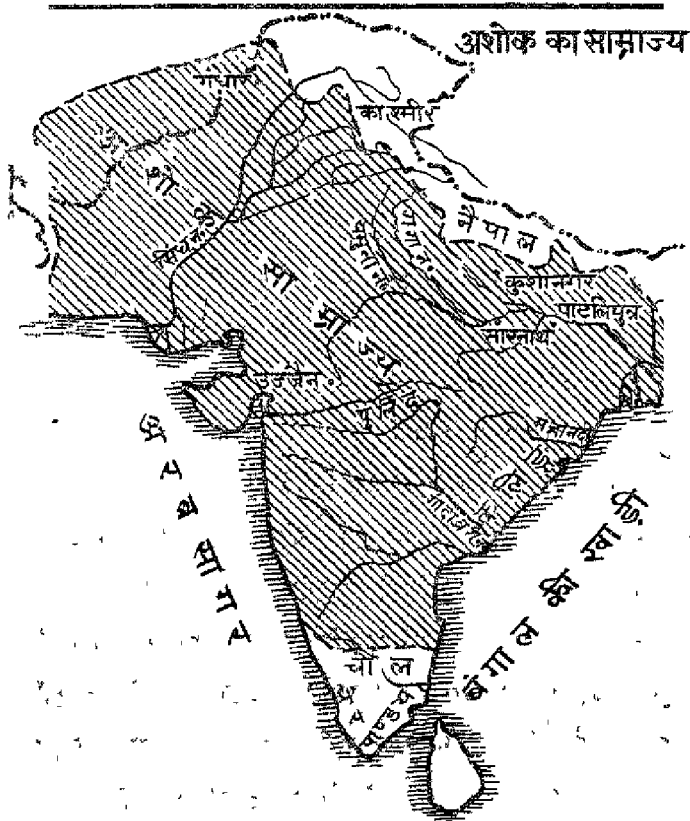
बौद्ध साहित्य के अनुसार जम्बूद्वीप

लेकर भारत तक फैले हुए थे। इसलिए मालूम होता है कि

कहते थे। द्राविड़ो ने सम्भवतः इस भू-भाग मे उस समय बहुतायत से पाये जाने वाले जम्बू फल के रंग मे अपने रंग की झलक देखी और इस क्षेत्र को जम्बूद्वीप कहकर पुकारा। द्राविड और आर्य संस्कृतियो का आपस मे बहुत अधिक मेल हुआ है। दोनों ने एक दूसरे पर काफी असर डाला है। यह बिलकुल स्वाभाविक है। द्राविड सस्कृति इतनी बढी-चढ़ी थी कि आर्य उससे अछूते रह नही सकते थे। संस्कृत साहित्य में जम्बूद्वीपे भारतखंडे का जो बार-बार जिक्र आया है, वह इसी मेल का एक फल है। आर्य प्रारम्भ में जिस सीमित क्षेत्र में बसे और फैले, वह ब्रह्मावर्त्त, आर्यावर्त्त और पीछे चलकर भारतवर्ष कहलाया। यह चूँकि द्राविडों के जम्बूद्वीप का एक हिस्सा था, इसलिए उन्होने साफ तौर से जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भारतखंडे ऐसा उल्लेख किया। बाद मे जब आर्य धीरे-धीरे सारे भारतवर्ष में फैल गये, तो जम्बूद्वीप शब्द का प्रचलन कम हो गया। और भारतवर्ष शब्द का बोलबाला हो गया। पर फिर भी जम्बूद्वीप शब्द बना रहा। इसका कारण स्पष्ट है। वह है मौर्यकाल के बलख, बुखारा तक फैले हुए बृहत्तर भारत का बोध कराने वाली इसकी प्राचीनता और उसके प्रति यहाँ के लोगो का स्वाभाविक मोह। वास्तव में आर्यों की बृहत्तर भारत की कल्पना पीछे की चीज है। द्राविड़ों ने पहले ही जम्बूद्वीप में बृहत्तर भारत का रूप देखा था। कालक्रम में सारे भारत के अर्थ मे भारतवर्ष का प्रयोग होने लगा। महाभारत और रामायण मे इस प्रकार का पहला प्रयोग पाया जाता है। उनके बाद से हिमालय से कन्याकुमारी तथा सिन्धु से ब्रह्मपुत्र की

घाटी तक के एक देश की कल्पना मजबूत होती गई। पुराणों में कई जगह इस तरह का वर्णन आया है। विष्णु पुराण में कहा है कि समुद्र के उत्तर मे और हिमालय के दक्षिण में जो वर्ष है, उसका नाम भारत है, जहाँ भारत की सन्तति रहती है।

इस भारतवर्ष शब्द के अतिरिक्त दो और शब्दों का प्रयोग सारे भारत के अर्थ में हुआ। वे हैं—हिन्दुस्तान या हिन्द। इंडिया और आर्यावर्त्त ने इतना बड़ा रूप कभी धारण नहीं किया। वह हिमालय और विन्ध्याचल पहाड़ के बीच में ही सीमित रहा। मनुस्मृति और अमरकोश में इसकी सीमा का ऐसा ही वर्णन है। ऐसा क्यों हुआ? आर्यावर्त्त के स्थान पर भारतवर्ष को क्यों प्रधानता दी गई? आर्यों ने इस देश को जीता था। अपनी सस्कृति फैलायी थी। आर्यावर्त्त उस विचार से उपयुक्त नाम था ही। फिर भी आर्यावर्त्त दो बडे पहाड़ों के बीच रहकर कालान्तर में अस्तित्व खो बैठा और भारतवर्ष समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण मे बराबर के लिए एक महादेश बन गया। उत्तर बहुत सीधा है। आर्यों से अधिक सख्या में पूर्वार्य थे। उनकी सभ्यता आर्यों से किसी तरह कम महान नहीं थी। आर्य नहीं चाहते थे कि आर्यावर्त्त सारे देश का नाम रख कर उनकी भावना को चोट पहुँचायें। आर्यावर्त्त में उन्हें जातीयता की गन्ध मिली। भारत उससे अधिक उन्हें व्यावहारिक नाम जँचा। जाति के बदले व्यक्ति के नाम पर नामकरण अधिक शीलयुक्त है। भरत वंश के प्रतापी सम्राट भरत के झंडे के नीचे बहुत-कुछ द्राविड भी आ

गये थे। फलतः उन्ही के नाम पर भारतवर्ष नाम को ही विशेष महत्व दिया गया। इसके बारे में एक दूसरा मत भी है—ऋषभ नाम के एक महामुनि हुए है। वे दोनों जैनो के प्रथम तीर्थंकर कहे गये हैं। कहा जाता है कि वे दक्षिण के पणियो और व्रात्यो के जो द्राविड़ थे, गुरु थे। उन्ही के पुत्र भरत ऋषि हुए। उन्ही भरत के नाम पर भारतवर्ष नाम पड़ा। यदि यह बात ठीक है तो आर्यो की मेल-जोल की उदार नीति का यह बहुत बड़ा प्रमाण है। द्राविड़ और आर्य भावनाओं का कैसा सुन्दर समन्वय इसमें दिखाई पड़ता है ?

इंडिया और हिन्दुस्तान या हिन्द शब्दों का एक ही अर्थ है। यूनानी लोग सिन्धु का उच्चारण इन्दु करते थे। इस इन्दु से इंडिया बना। मेगास्थनीज ने 'इंडिका' नाम की अपनी पुस्तक लिखी है। ईरानी लोग सिन्धु का उच्चारण हिन्दु करते थे। इस हिन्दु से हिन्दुस्तान या हिन्द का जन्म हुआ। मुसलमानों ने ईरानियो से यह नाम लिया। मशहूर मुसलमान लेखक अलबेरूनी ने ग्यारहवीं सदी में 'किताबुल-हिन्द' नाम की पुस्तक लिखी। इस प्रकार सिन्धु से इंडिया या हिन्दुस्तान या हिन्द बने, जिनका अर्थ है इन्दुओं या हिन्दुओं का देश। भारतवर्ष, इंडिया, हिन्दुस्तान और हिन्द चारों नाम का भावना के विचार से एक ही अर्थ होता है। अनेक नाम होते हुए भी मूल अर्थ में एकता मौजूद है। यहाँ हिन्दुओं के देश का आशय भी साफकर देना ठीक होगा। इन्दु या हिन्दु शब्द सिन्धु शब्द से उच्चारण भेद के कारण बना है।

अतः जाति के विचार से हिन्दू का अर्थ हुआ सिन्धु के किनारे पर बसनेवाले लोग। सिन्धु के किनारे द्राविड़, आर्य, यूनानी, शक, मुसल्मान सबने निवास किया। ये सब मिलकर हिन्दु या हिन्दुस्तानी या भारतीय या इडियन बने। इस प्रकार भारत या इडिया या हिन्दुस्तान या हिन्द सभी भारतीयों की जन्म-भूमि और पुण्य भूमि है, चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के क्यो न हो। आजकल हिन्दू शब्द जिस खास जाति के अर्थ मे व्यवहार किया जाता है, उसी की यह मातृभूमि है, सोचना भी भ्रमपूर्ण है। स्वतन्त्रता पाने के बाद बने हमारे धर्म निरपेक्ष संविधान ने इस देश का नाम भारत या इडिया स्वीकार किया है। यह प्राचीन काल से चली आती हुई हमारी परम्परा के अनुकूल है। ऐसा किसी खास जाति या धर्म के आधार पर नही किया गया है। इन नामों में, जैसा ऊपर लिखा गया है, कोई साम्प्रदायिक भावना नहीं है। विदेशो मे जाने पर हम इडिया शब्द का महत्व और गौरव समझ पाते है। सभी विदेशी इडिया का इस्तेमाल हिमालय से लेकर रामेश्वर तक फैले देश के अर्थ मे करते हैं। हमारा हृदय उस समय गौरव से भर जाता है। जब हम अपनी स्नेहमयी भारतमाता की याद में गद-गद हो उठते हैं। हमारे मुँह से अनायास आदि कवि बाल्मीकि की यह वाणी फूट पड़ती है—

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।"

राजनैतिक एकता की कहानी

राम से राजेन्द्र

३

★

भारत की राजनीतिक एकता के दो पहलू हैं—बाहरी और भीतरी। बाहरी पहलू है, चक्रवर्ती सम्राटों के नीचे सारे भारत का जब-तब आ जाना और फिर उसका टुकड़े-टुकड़े हो जाना। भीतरी पहलू है समूचे देश मे ग्राम-प्रजातन्त्रों या स्वतन्त्र पंचायतों पर आधारित व्यापक संघ शासन। इतिहासकारों ने साधारणतः बाहरी पहलू पर ज्यादा ध्यान दिया है। उन्होंने उसका विस्तार से वर्णन किया है। समूचे देश के एक शासन में सिमट आने और

फिर उसके टूट जाने की प्रक्रिया को उन्होने संयोजक और विभाजक शक्तियों का संघर्ष नाम दिया है। वास्तव मे इतिहास में ऊपरी सतह पर बराबर यह सघर्ष होता रहा है। इसमे कभी जोड़ने वाली ताकत विजयिनी रही और कभी तोड़ने वाली। पर शुरू से भीतरी सतह पर एकता की एक अटूट संजीवनी धारा बहती रही है। दुर्भाग्य की बात है कि सारे देश में प्रवाहित ग्राम-प्रजातन्त्रों की इस प्रबल सयोजक संजीवनी धारा को अब तक उचित महत्व इतिहास लेखको ने नही दिया। भारत गाँवों का देश है। इसकी सारी निधि, इसकी करोड़ो जनता गाँवों मे बास करती है। सारे राष्ट्र की एकता की नीव हजारों साल पहले बहुत समझ-बूझकर इसीलिए विचारकों ने ग्राम-प्रजातन्त्रों के रूप में डाली। उन्होने देखा कि देश बहुत बड़ा है। आवागमन की सुविधा नही के बराबर है। विदेशियों के हमले होते ही रहते हैं। इसलिए स्थायी शान्ति और सुरक्षा का कोई ऐसा प्रबन्ध किया जाय, जो इन सब संकटों से भीतर-भीतर देश को अछूता रखे। फलतः ग्राम-पंचायतों की इस संघ-प्रथा का जन्म हुआ। आर्यों ने द्राविड़ो की ग्राम-प्रथा के आधार पर धीरे-धीरे अपनी इस ग्रामीण प्रणाली का विकास किया। इसमें आजकल की तरह बड़े-बड़े भू-स्वामी और जमींदार नही थे। जमीन या तो देहाती समूह या पंचायतों की थी या वह उस पर काम करने वाले किसानों की हुआ करती थी। केन्द्रीय शासन गाँवों की इस भीतरी व्यवस्था में दखल नहीं देता था। साम्राज्य बदल जाते थे, पर इस ग्राम-संस्था पर खड़ी हुई समाज-व्यवस्था और उस पर खड़ा हुआ राष्ट्र बिना

ज्यादा हेर-फेर के जारी रहता था। ग्राम-पंचायतों की इस सघ-प्रथा की प्रवृत्ति राज्यों के निर्माण मे भी दिखाई पड़ी। शाक्य, विदेह, लिच्छवि गणतन्त्रों का इतिहास में बड़ा नाम है। सम्भवत. देश की विविधता और विशालता को देखकर भारतीयों ने उसी समय भारत के लिए सघ-शासन के महत्व को समझा। पर उस समय की परिस्थिति मे छोटे-छोटे गाँवों मे ही सघ-शासन को सफलता मिल सकती थी। चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा सारे देश का शासन असम्भव था। फलतः महत्वाकाक्षी सम्राटों की विजय-यात्रा की बाढ़ में वे सब बह गये। आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों मे भी यह प्रवृत्ति काम करती है। जमीदारो और व्यापारियों के संघों का वर्णन मौर्य और गुप्त राजाओ के समय में पाया जाता है। बौद्ध धर्म में भिक्षुओं के संघ का बड़ा महत्व था। शंकराचार्य ने भी संन्यासियों का संघ कायम किया।

ग्राम-सघो के द्वारा कायम की गई देश की यह राजनैतिक एकता सम्राटों द्वारा स्थापित एकता से अधिक मूल्यवान है। सचमुच इसने देश को छिन्न-भिन्न होने से हमेशा बचाया। द्राविड़ों के समय से अगरेजो के आने के समय तक ग्राम-शासन की यह परम्परा कुछ हेर-फेर के साथ चलती रही। अंगरेजो ने अनजाने या जान-बूझ कर इस परम्परा को नष्ट करने की कोशिश की। गाँवों के उद्योग-धन्धे नष्ट होने लगे। देहाती जनता अपने मुकदमों के फैसले के लिए शहरों की कचहरियों की शरण लेने लगी। फिर भी किसी न किसी रूप में ग्राम-शासन कमोबेश चलता रहा। अब

तो स्वतंत्र भारत की राज्य सरकारें इस प्रथा को फिर से जीवित करने में लग गई हैं।

अब राजनैतिक एकता के बाहरी पहलू पर आना चाहिए। रामराज्य के प्रवर्त्तक राजा रामचन्द्र से लेकर स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद तक ऊपरी सतह पर बार-बार हिमालय से कन्याकुमारी तक देश को राजनैतिक रूप से एक करने का स्वाभाविक प्रयत्न होता रहा है। अनेकताओं के रहते हुए भी इसमें अधिक या कम सफलता मिलती रही है। राम पहले पुरुष है जो राजनैतिक दृष्टि से भारत को एक करने का यत्न करते देखे जाते हैं। पर उनका तरीका साम्राज्यवादी नहीं है। वे वनवास के समय द्राविड़ों की एक शाखा सुग्रीव और हनुमान से मित्रता स्थापित करते हैं। उनके सुख-दुःख मे भाग लेते है। दूसरी वन्यजातियों का हृदय सेवा और प्रेम से जीतते हैं। फिर अपनी पत्नी के हरनेवाले रावण की लंका पर चढ़ाई करते हैं। पहले सन्धि और मेल-मिलाप का बहुत प्रयत्न वे अंगद के द्वारा कराते है। इसमे विफल होने पर युद्ध होता है। रावण मारा जाता है। राम विभीषण को, जो रावण का भाई है, लका का राज्य दे देते है। फिर अयोध्या लौटकर अश्वमेध यज्ञ कराते हैं। चक्रवर्ती सम्राट ही यानी राजाओं का राजा ही ऐसा यज्ञ कर सकता था। वास्तव में प्राचीन साहित्य में आधिपत्य के सूचक चार महायज्ञो का वर्णन मिलता है—राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध और ऐन्द्र महाभिषेक। अनेक राजाओ को जीतकर एक-छत्र राज्य कायम करने वाला सम्राट ही इन यज्ञों को कर सकता था।

महाभारतकाल में भारत की राजनैतिक एकता का चित्र और साफ होता है। यदुवंशी कृष्ण हमारे सामने राष्ट्रीय नेता के रूप मे उपस्थित होते है। उनकी प्रेरणा से पांडव सारे उत्तरी भारत का दिग्विजय करके राजसूय यज्ञ करते हैं। महाभारत के भीष्म पर्व से पता चलता है कि इस यज्ञ में दक्षिण भारत के राजाओं के प्रतिनिधि भी उपहार लेकर आते हैं। पाँडवों की इस अभिवृद्धि से कौरवों को जलन होती है। फलस्वरूप महाभारत मचता है। लगभग सारे देश के राजा महाराजा इसमें किसी-न किसी तरफ से भाग लेते है। कहते हैं कि दक्षिण के चेरवंश के प्रथम सम्राट उदियन जैरल ने दोनो ओर की सेनाओं को अच्छी तरह भोज खिलाया था। इसलिए उन्हें भोजराज उदियन जैरल कहा गया। पर इतिहासकारो के अनुसार उदियन जैरल का समय १३० ई० के लगभग है और महाभारत का समय अधिक मत से ई० पू० १००० वर्ष पहले माना जाता है। इसलिए यह बात ठीक नही जँचती। पर संभव है कि उनके किसी पूर्वज ने ऐसा किया हो और इसलिए उनके नाम के साथ भी यह प्रशस्ति जोड़ दी गई हो। पांड्य और चोलवंश के राजाओं को भी यह प्रतिष्ठा दी गई है। जो कुछ हो, इससे इतना तो झलकता ही है कि महाभारत काल में हिमालय से कन्या कुमारी तक के भारत का भाव उदित हो गया था। उसके बाद कई सदियों का इतिहास अंधकार मे पड़ा हुआ है। एकाएक ई० पू० चौथी सदी के अन्त मे भारत के आकाश में चाणक्य और चन्द्रगुप्त सूर्य की तरह चमकने लगते हैं। सुदूर दक्षिण का बहुत थोड़ा भाग छोड़कर सारा भारत मौर्य

शासन् के अन्दर गुँथ जाता है। वास्तव में व्यावहारिक रूप से यही हम पहले-पहल एक मजबूत केन्द्रीय शासन को सफलतापूर्वक काम करते देखते है। चाणक्य की प्रसिद्ध पुस्तक अर्थशास्त्र में उत्तर और दक्षिण भारत के बीच के व्यापार का वर्णन मिलता है। इस पुस्तक मे चाणक्य ने राजाओ को जो उपदेश दिया है, और जो राजप्रबन्ध बताया है, बहुत-कुछ वैसा ही तमिल की प्रसिद्ध पुस्तक मुप्पाल या कुरल में मिलता है। दूसरी या तीसरी सदी ईसवी में मद्रास के पास मलयापुर के कवि तिरूवल्लुवर ने इस पुस्तक को लिखा। इससे साफ पता चलता है कि उत्तर और दक्षिण भारत में संगठन के एक ही तत्व विराजमान थे। ऐतरेय ब्राह्मण में तो तरह-तरह के अधिकारों और दर्जों वाले राज्यों का वर्णन है। वे हैं राज्य, साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमस्थ्य, माहा-राज्य, आधिपत्य और स्वावश्य इत्यादि। ये बतलाते है कि बहुत पुराने समय से ही यहाँ दूर तक फैले हुए राज्य के शासन-संगठन की रूप-रेखा मौजूद थी।

गुप्तवंश के समय में सारा देश एक शासन-सूत्र मे फिर बँधता दिखाई पड़ता है। महान समुद्र गुप्त हिमालय से हिन्द महासागर तक दिग्विजय करके अश्वमेध यज्ञ करता है। इस वंश का शासन काल ३२०-६०६ ई० तक रहता है। भारत के इतिहास में इस युग को स्वर्णयुग कहा गया है। वर्धनवंश के हर्षवर्धन के समय मे भी सारा उत्तरी भारत जुटा रहता है। मुसलमानो के समय में अल्ला-उद्दीन खिलजी को हम उत्तर भारत को जीतकर सुदूर दक्षिण को

ओर बढ़ते देखते हैं। सोलहवी शताब्दी में महान अकबर सारे भारत को फिर एक करते देखा जाता है।

यहाँ तक तो हमने उत्तर भारत के राजाओ को ही सारे देश को एक करने के प्रयत्न में लगे देखा। इससे ऐसा भ्रम नही होना चाहिए कि दक्षिण भारत इससे उदासीन रहा है। पहले चेरवश के भोजराज उदियन जैरक का जिक्र किया जा चुका है। उसका पुत्र प्रसिद्ध नेदुन जैरल आदन था। उसने सात राजाओ को हराकर अधिराजा की उपाधि धारण की थी। वह इमयवरम्बन कहलाता था, जिसका अर्थ होता है "वह जिसकी सीमा हिमालय तक थी" कहा जाता है कि उसने समूचे भारत को जीता और हिमालय पहाड़ पर अपने वश के राज्य-चिह्न धनुष को खुदवा दिया। चोलवंश के प्रसिद्ध राजा करिकाल के बारे में भी माना जाता है कि उसने हिमालय तक सारे भारत को जीता। इसका समय १६० ई० के आसपास कूता जाता है। पल्लवों के पतन के बाद इस वंश का सितारा आठवी सदी मे फिर चमका। १०१२ ई० में राजेन्द्र उत्तम चोल राजा हुआ। वह १०२० ई० में चालुक्य-राज जयसिंह तृतीय को हराकर कलिंग, कोशल जीतता हुआ बंगाल तक पहुँचा। इस प्रकार गगा नदी तक वह पहुँच गया और उसने "गंगाईकोंडा" की पदवी धारण की। मौर्य वंश के खतम होने के बाद बीच भारत मे आंध्रवंश का बोलबोला हुआ। इस वंश का शासनकाल ई० पू० २३० से ई० २२५ तक माना जाता है। ये लोग भारत के इतिहास में तीन समुद्रों के स्वामी कहे गये हैं। इन लोगों ने सारे दक्षिणी भारत को जीता और

उत्तर में मालवा तथा गुजरात तक राज्य फैलाया। दक्षिण का विजय नगर राज्य १३३६ ई० से १५६५ ई० तक दक्षिण भारत की एकता का प्रतीक बना रहा। इस प्रकार सारे भारत की राजनैतिक एकता के लिए दक्षिण की देन किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नही है।

अंगरेजी शासन-काल में भारत राजनैतिक एकता के चरम लक्ष्य तक पहुँचा। यह काम केवल अंगरेजों का नही था। यह तो हजारों वर्ष से चली आ रही स्वाभाविक प्रक्रिया की परिणति थी।

अनेकता में एकता की विशेषता से युक्त आसेतु हिमांचल भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद

यद्यपि यह ठीक है कि अंगरेजों के मजबूत केन्द्रीय शासन, आधुनिक शिक्षा के विस्तार और आवागमन की सुविधाओं के

विकास से इसमे बहुत अधिक मदद मिली। स्वतत्र भारत आज अपने सघीय शासन के अन्दर सबसे अधिक सगठित और एकताबद्ध है। इसका श्रेय स्व० वल्लभ भाई पटेल को प्राप्त है। उन्होने देशी राज्यो को भारत के मानचित्र से हटाकर एक अखड और सुदृढ भारत का निर्माण किया। इस प्रकार अतीत काल में सारे भारत को एक करने के प्रयासो की पूर्णाहुति हुई। युग-युग का सपना साकार हुआ। ऐसे एकताबद्ध भारतीय राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद में भारतीय जनता अपनी चिरसचित आशाओ और अभिलाषाओ की पूर्ति का प्रतिबिम्ब देखती है। राम से राजेन्द्र तक की यह कहानी अनेकता मे एकता की हमारी विशेषता का ज्वलंत प्रमाण है।

जातियों की एकता की कहानी

हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एक देहे होलो लीन ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

४

विश्वामित्र से विनोबा

★

प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान डाडवेल ने भारत को ठीक-ठीक परखा था। उसने लिखा है—"भारत मे समुद्र की तरह सोखने की असीम शक्ति है।" सी० ई० एम० जोड ने भी यही अनुभव किया। उसने कहा भी—"भारत की संसार को खास देन यही है। उसने विचारों और कौमों के अलग-अलग तत्वों में समन्वय की और विभिन्नता में एकता पैदा करने की योग्यता और तत्परता दिखाई है। ऐसे ही मत अनगिनत विदेशी विचारकों ने बार-बार व्यक्त

किये है। पर वास्तव में यह कोई नई खोज नही है। स्वयं अनगिनत भारतीय विचारकों ने शुरू से ही ऐसा कहा है। भारत के इतिहास का कोई भी उदार विद्यार्थी इसका अनुभव सहज ही कर सकता है। सभी उपनिषद पुकार-पुकार यही उपदेश देते हैं—"जो आत्मा को सब चीजो मे और सब चीजों में आत्मा को देखता है, वह किसी चीज को घृणा से देख ही नही सकता।" महाभारत की शिक्षा का सार भी यही है—"दूसरे के लिए तू ऐसी बात न कर जो तुझे खुद अपने लिए पसंद नही हो।" ईसा से ७०० साल पहले स्मृतिकार—महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी बात को दुहराया—"अपने धर्म और चमड़े के रंग के कारण हममें गुण नही उपजता; गुण अभ्यास से आता है। इसलिए उचित है कि कोई आदमी दूसरे के लिए कोई भी ऐसी बात न करे जिसे वह अपने लिए किया जाना पसंद नहीं करेगा।" महात्मा बुद्ध ने संसार के दुखो के निदान के लिए मज्झिम निकाय या मध्यम मार्ग को ही श्रेष्ठ बताया। उन्होंने अपने शिष्यो से कहा—"सभी देशों में जाओ और इस धर्म का प्रचार करो। उनसे कहो कि गरीब और दीन, धनी और कुलीन सभी एक है। इस धर्म में सभी जातियाँ वैसे ही आकर मिल जाती हैं, जैसे नदियाँ समुद्र में।" "डिस्कवरी ऑफ इण्डिया" में असली भारत की खोज करते हुए भारत-हृदय श्री जवाहर लाल ने यह उद्गार प्रकट किया है—"सभ्यता के उषाकाल से आज तक भारत के दिमाग में एकता का एक स्वप्न बराबर रहा है।"

अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक समन्वय की निर्बाध गति

से बहती हुई इस अटूट धारा को या पारस्परिक मेल-घोल की इस प्रक्रिया को भारतीयकरण कहना चाहिये। भारत की धरती की यह सबसे बड़ी विशेषता है। इसने भारतीय जीवन को अमरत्व प्रदान किया है। इसी ने भारत को अनन्त काल से लेकर आजतक घोर संकटों के बीच भी जीवित और जाग्रत रखा है। भारतीय-करण का प्रयोग आर्यीकरण या हिन्दूकरण के अर्थ में नहीं किया गया है। अनेक इतिहासकारों ने द्राविड़, आर्य, यूनानी, शक, हूण आदि जातियों के एक दूसरे में घुलमिल कर एक हो जाने की प्रक्रिया को आर्यीकरण कहा है। दक्षिण भारत मे आर्य सस्कृति के प्रचार और प्रसार को बार-बार आर्यीकरण कहा गया है। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई के बाद भी अगर कोई इसकी वाछनीयता समझता है तो यह निरी भावुकता है। वास्तव में यह कहना बहुत कठिन है कि किस जाति या संस्कृति का कितना असर किस पर पड़ा। इसलिए जातिगत संकीर्णता से ऊपर उठकर हिमालय से कन्याकुमारी तक फैले हुए देश के स्वभाव मे ढलने का अर्थ बताने वाले ही भारतीयकरण की कहानी की एक छोटी झाँकी देखेंगे।

भारतीय जातियो की बुनियाद चार जातियों से बनी है— ऑस्ट्रिक या निषाद, द्राविड़, किरात और आर्य। पर भारत के असल मूल निवासी नेग्रिटो या निग्रोवटु थे। इनका अब कहीं नामो-निशान नहीं है। बाहर से आनेवाले सबसे पहले लोग निषाद थे। इनके बाद द्राविड़ आये। वे पूर्व पश्चिम दिशा से आये। फिर आर्य और उत्तर तथा उत्तर-पूर्व से तिब्बती-चीनी

लोग जो प्राचीन भारत में किरात कहलाते थे, आये। आर्यों के आने के पहले नेग्रिटो, निषाद और द्राविड लोगों में कहाँ तक सम्मिश्रण हुआ, इसका ठीक-ठीक पता नही। आर्यों के आने के बाद सम्मिश्रण की क्रिया साफ-साफ दिखाई पड़ने लगती है। इस दिशा में हम पहले-पहल विश्वामित्र को प्रयत्नशील देखते हैं। वे हमारे सामने एक बहुत बडे सामाजिक क्रान्तिकारी के रूप में उपस्थित होते हैं। कहते है कि उन्होंने एक नई सृष्टि ही बना डाली। उन्होंने अपनी आँखों के सामने द्राविड़ और आर्य दो महती जातियों को आपस में टकराते देखा। उन्होंने कभी न अन्त होने वाली इन लड़ाइयो के भयकर नतीजो की कल्पना की। वे मंत्रद्रष्टा, भविष्यदर्शी ऋषि थे। उन्होंने अपनी दूरदर्शी आँखों से देख लिया कि आनेवाली हजारों-हजार पीढ़ियों की सुख-शान्ति और सुरक्षा के लिए इन लोगो का एक दूसरे में घुल-मिल जाना जरूरी है। पर यह काम उतना आसान नही था। शुद्ध आर्य रक्त के हिमायतियों के प्रतिनिधि वशिष्ठ ने उनका घोर विरोध किया। फिर भी क्रान्तिकारी ऋषि जरा भी नहीं डिगे। द्राविड़ शम्बर की पुत्री शाम्बरी से उन्होंने विवाह किया। इससे उन्हे शुनः शेप नाम का पुत्र हुआ। इस शुनः शेप को बड़ा भाई नहीं मानने के कारण उन्होंने अपने दूसरों पुत्रों को शाप देकर निकाल दिया। ये आर्यावर्त्त की दक्षिणी सीमा पर जाकर बस गये। वहाँ इन्होंने अनार्यों से विवाह सम्बन्ध किया और उनमें घुल-मिल गये। इन्ही के वंशज आंध्र, पुन्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब हुए। इस प्रकार इस शाप में भी समन्वय का ही प्रश्न मिला।
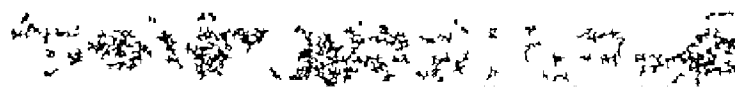
विश्वामित्र को इस कार्य में बहुत दूर तक सफलता मिली। पर इसके लिए उन्हे महान त्याग करना पड़ा। वेदो का प्रसिद्ध दाशराज्ञ युद्ध का कारण भी बहुत-कुछ यही था। इस कार्य मे दूसरे बहुत-से ऋषियों ने भी किसी न किसी तरह का योग दिया। खास कर महर्षि अगस्त्य की इसमे बहुत बडी देन है। फिर भी इस देश की भूमि और जलवायु की अपने रूप रंग में ढाल लेने की विशेषता ने भी असर डाला। पीछे चलकर आर्य और पूर्वीय-विचारकों ने इस समस्या का एक सुन्दर हल निकाला। बहुत दिनो तक वे आपस मे लड़ाई में उलझे रहे। उन्होने अनुभव किया कि इस कभी न खतम होने वाली लड़ाई से किसी का लाभ नही है। इसलिए उन्होंने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को जन्म दिया। यह सिद्धान्त वर्ण व्यवस्था के व्यवहारिक रूप मे प्रकट हुआ। इसका उद्देश्य था अलग-अलग जातियो को एक सामाजिक संगठन के अन्दर ले आना। भिन्न-भिन्न दर्जे कायम करके भी उन्हे एकता के सूत्र मे बाँधे रखना। अनेक अलग-अलग डब्बो में बँटे रहने पर भी रेलगाड़ी एक ही होती है। उस समय परिस्थिति में यह एक बिलकुल संगत समाधान था। लगातार लड़ाई मे हारे और थके लोगों के लिए यह एक शान्ति का रास्ता था। ब्राह्मण पुरोहित, विचारक और नीतिज्ञ बनकर जाति के आदर्शों की रक्षा करने लगे। क्षत्रिय देश की रक्षा और शासन में जुट गये। वैश्य खेती, कारीगरी और व्यापार में लगकर देश की श्री बढाने लगे। शूद्र मजदूरी और सेवा के महत्वपूर्ण काम मे लग गए। इस वर्ण-व्यवस्था मे उस समय की प्रमुख सभी जातियो का समावेश हुआ। निषादो

और द्राविड़ों में से भी बहुत अपनी रुचि और कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में शामिल हुए। बहुत-से आर्य जो किसी न किसी कारण-वश जाति से निकाले गए शूद्रवर्ण में दाखिल हो गए। इस प्रकार शुरू के जमाने में "जिओ और जीने दो" का एक अद्भुत प्रयोग हमारे विचारकों ने किया और भारतीय जातियों की एक सुगठित, मजबूत वर्ण-व्यवस्था वाली गाड़ी अनन्त काल तक दौर के लिए चल पडी। इस दौर के सिलसिले मे और भी अनेक नई जातियाँ इसके सामने आईं। वे थीं—मिडियन, ईरानी, यूनानी, वाख्त्री, पार्थियन, शक, कुशाण आदि-आदि। लेकिन इन सबका भी आज कहीं अलग अस्तित्व नही है। वे सब इस गाड़ी में समा गईं। इसको अपना घोंसला बना लिया और सब एक होकर इसमें चहकने लगी। जब तक इस गाड़ी में समय के अनुसार चलने और अपने मे मिला लेने की शक्ति बनी रही, यह शान से अपना विजयी झंडा फहराती बढ़ती रही। अफगानिस्तान से हिन्द चीन तक इसका डंका बजता रहा। नौवी, दसवीं ई० सदी में इस गाड़ी में कमजोरी दिखाई पड़ी। यह एक बँधी-बँधाई लीक पर चलने लगी। इसकी स्वच्छन्दता रुकती-सी मालूम हुई। नये रास्तों पर जाने में हिचकने लगी। इसने अपने विचारों की विस्फोटकता और रचनात्मक शक्ति खो दी। इसकी जिन्दगी बँध गई और स्थिर हो गई। यह अपनी बनाई वर्ण-व्यवस्था के घेरे में बन्द हो गई। वर्ण-व्यवस्था जिस उद्देश से बनी थी, वह आंखों के सामने से जाता रहा। इसने कठोर जात-पांत का रूप ले लिया। तीन कनौ-

जिये तेरह पाक का बोलबाला हो गया। शायद यह बहुत-कुछ स्वाभाविक ही था।

विश्वामित्र से लेकर तब तक का जमाना बहुत बड़ा था। इतने लम्बे समय तक कोई बुराई न आवे, यह कैसे सोच लिया जाय ? वर्ण-व्यवस्था चाहे कितनी भी अच्छी पहले क्यों न रही हो, पर यह अब भारतीयों के लिए अभिशाप हो गई। तो क्या वास्तव मे भारतीय जनता ने अपनी सारी जीवनी-शक्ति खो दी थी ? दरअसल बात ऐसी नहीं है। यह ठीक है कि जीवन के कई क्षेत्रों में बहुत ह्रास हो गया, फिर भी बुनियादी जीवनी-शक्ति मौजूद रही। इसी समय से मुसलमानों का यहाँ आना शुरू हुआ। वे आते गये, देश को जीतते गये और बसते गये। जब उनका आना और बस जाना तथ्य बन गया, तब हिन्दुओं और मुसलमानों के समन्वय का महान प्रयत्न दोनों तरफ से शुरू हुआ। हिन्दू विचारकों ने देखा कि वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न जात-पाँत और छुआछूत, हिन्दू-मुस्लिम एकता का सबसे बड़ा रोड़ा है। फलतः हजारो साल पहले समय की माँग के कारण स्थापित वर्ण-व्यवस्था जो अब मौजूद नहीं रह गई थी, के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ। बुद्ध ने तो बहुत पहले ही इसके विरुद्ध चेतावनी दी थी। पर उस समय उसने इतना विनाशकारी रूप नहीं लिया था। यहाँ हम समय के अनुसार चलने और अपने में मिला लेने की भारत की विशेषता को फिर देखते है। मुसलमानो में भी इस एकता की ओर रुझान पैदा होते देखा जाता है। अधिकाश

मुसलमान शासकों ने इस देश को अपना वतन समझा और मुस-लमान तथा हिन्दू जनता पर समान भाव से शासन किया। अनेक मुसलमान सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य का प्रयत्न किया। आपसी शादी-विवाह का सिलसिला शुरू हुआ।

जीवन के सभी अंगों पर एक दूसरे ने काफी असर डाला। कबर ने इस क्षेत्र में बहुत अधिक काम किया। औरंगजेब इसके विरुद्ध गया और उस साम्राज्य का खात्मा हो गया। दक्षिण में चौदहवीं सदी में रामानन्द हुए। कबीर, जो मुसलमान जुलाहा ., उनके शिष्य थे। इन लोगों ने जाति-पाँत का घोर विरोध किया। ानक ने जाति-पाँत के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने जाति-पाँत हित सिक्ख सम्प्रदाय का संगठन किया। इसमें हिन्दुओं के सभी र्णों के लोग शामिल किये गये।

इस प्रकार यह समय की माँग के अनुसार वर्ण-व्यवस्था के ोढ़ में नश्तर लगाकर एक नया स्वस्थ सामाजिक संगठन का नर्माण था। जाति-पाँत के यह विरोध का सिलसिला राजा राम-ोहनराय, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द आदि होते हुए महात्मा ंधी तक चलता रहा। गांधी जी ने हरिजनोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम कता आदि के बारे जो-कुछ किया, वह किसे मालूम नहीं। यहाँ व कि वे इसी एकता की वेदी पर बलिदान हो गये। एक [illegible]
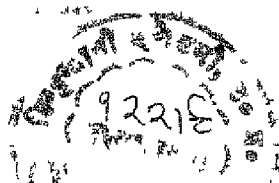
पाँत रहित नव भारत राष्ट्र के निर्माण और संरक्षण का संदेश भारतीय जनता को दे रहे हैं। उनका भूदान आन्दोलन आर्थिक क्रान्ति के लिए ही शान्तिमय संघर्ष नहीं है वरन् उनके द्वारा देश में एक महान सामाजिक क्रान्ति भी देश मे हो रही है।

इन लगातार कोशिशों का नतीजा यह हुआ कि प्रगति की विरोधिनी वर्ण-व्यवस्था अब आखिरी साँस ले रही है। स्वाधीन भारत के नये संविधान ने छुआछूत को गैरकानूनी करार दिया है। चार वर्णों के अन्दर आनेवाली निषाद द्राविड़, आर्य, यूनानी, शक, हूण आदि जातियाँ सब मिलकर एक नई जाति भारतीय या हिन्दी या हिन्दुस्तानी बन गई है। उनमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का जातिगत भेदभाव नही रह गया है। सब प्राकृतिक गुणों के आधार पर भिन्न-भिन्न कामों में लगकर देश के उत्थान में जुटे हुए हैं। सैकड़ों वर्ष से एक साथ भाई-भाई की तरह रहनेवाले हिन्दू-मुसलमानों के बीच यद्यपि दो राष्ट्र के सिद्धान्त के कारण कुछ कटुता पैदा हुई पर वे शान्तिपूर्वक भारत के नव-निर्माण में लगे हैं। भारत के इसी सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के कारण पश्चिम एशिया के मुस्लिम देश आज इसके दोस्त हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वामित्र से बिनोवा तक भारत की अनेक जातियो का भारतीयकरण होता रहा है। सभी भारतीय चाहे वे हिंदू, मुसलमान, सिक्ख पारसी, ईसाई कोई भी हों, सब राष्ट्रीयता के धागे में गुँथे हुए हैं। राष्ट्रीयता आज

एक आध्यात्मिक तत्व है, उसका एक मनोवैज्ञानिक आधार है। उसमें आज जातीय एकता का आधार कल्पनात्मक ही अधिक है, वास्तविक कम। कनाडा, स्विट्जरलैंड, अमेरिका और रूस अनेक जातियों के संगम-स्थल हैं। फिर भी उनमें राष्ट्रीयता का भाव है। इस दृष्टि से भारत को अनेक जातियाँ तो राष्ट्रीयता के सूत्र में गुँथी हुई है ही, पर वास्तव में अमेरिका और रूस की अनेक जातियों से बढ़कर यहाँ की जातियो की एकता-मूलक महान् ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही है, जो इन्हें आपस में दाल के दो दलों की तरह भिन्न होते हुए भी एक रखती रही है। आज तो हम कह सकते है कि :—

"आ सिन्धोसिन्धु पर्यन्ता,
यस्य भारत भूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव,
सर्वैर्हिन्दुरिति स्मृतः।"

"अर्थात् सिन्धु नदी से लेकर समुद्र तक भारत भूमि को अपनी पितृभूमि और पुण्य-भूमि मानने वाला व्यक्ति हिन्दू या हिंदी या भारतीय है।"

भाषाओं की एकता की कहानी

५

अगस्त्य से नेहरू

★

भारत में अन्य क्षेत्रों की तरह भाषा के क्षेत्र मे भी काफी समन्वय का काम शुरू से ही होता रहा है। आर्यों के पास यहाँ आने के समय यद्यपि एक भरी-पूरी भाषा थी, पर संभवतः उनके पास कोई लिपि नही थी। इसीलिए पहले ऋचाओं को गुरु से सुनकर शिष्य द्वारा याद कर लेने की परम्परा थी। यह परम्परा भारत में आकर उनके बस जाने के बहुत समय बाद तक चलती रही। यहाँ उनके पहले से ही द्राविड़ों की एक महान् सभ्यता

फल-फूल रही थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई ने अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। इस खुदाई में अनेक शिलालेख हासिल हुए हैं। इन शिलालेखों की लिपि अब तक पढ़ी नहीं जा सकी है। पर इससे तो यह प्रमाणित हो गया है कि द्राविड़ों की लेखन-कला उस समय भी मौजूद थी, जब आर्य अभी श्रुति द्वारा काम चला रहे थे। बहुत दिनों तक लड़ते और झगड़ते रहने के बाद जब देश में कुछ शान्ति कायम हुई और दोनों जातियों में घोल-मेल शुरू हुआ तो सबसे पहले आर्यों ने उनकी लिपि को लिया। यह काम संभवत: ई० पू० दसवीं सदी में या उसके आस-पास हुआ। उसी समय के बाद हम वेदों, उपनिषदों तथा महाभारत का संकलन और सम्पादन होते देखते हैं। वशिष्ठ के पुत्र पराशर और निषाद-कन्या सत्यवती से उत्पन्न महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने इसी समय के लगभग वेदों और महाभारत का संपादन किया। वेद-सम्पादक होने के कारण ही वे वेदव्यास कहलाये। इस दृष्टि से वेदव्यास का भारत के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। वास्तव में भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति की नींव डालने वाले महापुरुषों में उनका स्थान अग्रगण्य है। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने अपनी 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी" नामक पुस्तक में आर्यों द्वारा द्राविड़ों की लिपि के अपनाये जाने के मत का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है कि—भारत की राष्ट्रीय लिपि और वर्तमान भारतीय लिपियों की जननी ब्राह्मी का उद्भव द्राविड़

की सिन्ध-पजाब लिपि से हुआ मालूम पडता है। सम्भवत: ई० पू० दसवी सदी मे भारतीय आर्यभाषा के लिए स्वीकृत की गई सिन्ध-पंजाब लिपि के विकास[1] में तीसरी चौथी[2] सदी ई० पू० की ब्राह्मी तक लगभग छ:-सात सौ वर्ष तो अवश्य लगे होंगे। इतने पर भी ब्राह्मी लेखन-प्रणाली सब प्रकार से सम्पूर्ण नही थी। इसलिए सस्कृत के लिये प्रयोग में लाई गई सब तरह से पूर्ण ब्राह्मी लेखन-प्रणाली का विकास होते-होते लगभग ८०० से १००० वर्ष लगे होंगे।

द्राविड़ों की लिपि अपना लेने के बाद आर्यभाषा का प्रचार और प्रसार जोर-शोर से शुरू हुआ। पर इसके साथ-साथ दोनों भाषाओं में सामंजस्य का काम भी जारी रहा। भारत में आगमन के समय तक भारतीय आर्यभाषा दो रूपों से होकर गुजर चुकी थी। पहला रूप था आर्यों के मूल स्थान की भारतीय-यूरोपीय भाषा का जिसमे यूरोप की मुख्य भाषाएँ आ जाती हैं। दूसरा रूप था भारतीय-ईरानी भाषा का जिसका विकास ईरान में आर्यों के आने पर हुआ। भारत में आने वाले आर्य अपने साथ इसी भारतीय ईरानी भाषा को लेकर पहुँचे जो ईरानियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ आवेस्ता में आज भी मौजूद है। यहाँ आने पर द्राविड़ों से सम्पर्क होने और यहाँ की आबहवा के असर पड़ने से इन भारतीय-ईरानी भाषा में धीरे-धीरे परिवर्तन आने लगे। फलत

ओझा ने भारतीय आर्यभाषा का [illegible] [illegible]
[illegible]

सरलता के लिए यह भारतीय आर्यभाषा वैदिक संस्कृत कहलाती है। पर वैदिक संस्कृत भी आज अपने मूल रूप में नहीं है। समय के बदलने, नई-नई जातियों के भारत में आकर मिलते जाने और इन कारणों से उत्पन्न परिस्थितियों तथा जरूरतों की पूर्ति के लिए बराबर भाषाओं में सामंजस्य होता रहा। क्रमशः वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पाली, प्राकृत और आज की देश की सर्वसाधारण जनता की भाषाएँ हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि का उद्भव तथा विकास इसके प्रमाण हैं। वैदिक संस्कृत महात्मा बुद्ध के बहुत पहले ही लौकिक संस्कृत बन गई थी।

ई० पू० आठवीं सदी में पाणिनी ने लौकिक संस्कृत का अपना प्रसिद्ध व्याकरण अष्टाध्यायी लिखा। बदलती हुई परिस्थिति के मोताबिक भाषा को अधिक से अधिक जनसुलभ और आमफहम बनाने का यह स्वाभाविक प्रयत्न आर्यखुद कर रहे थे। पर आर्य और पूर्वीय भाषाओं के समन्वय का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न पाणिनि के बहुत पहले महर्षि अगस्त्य कर चुके थे। वह प्रयत्न था भारत के दो प्रमुख भाषा-परिवारों में से अधिक प्राचीन द्राविड़ भाषा परिवार की मुख्य भाषा तमिल और संस्कृत के समन्वय का। आर्य जैसे-जैसे उत्तर भारत में फैलते गये वैसे-वैसे द्राविड दक्षिण भारत में सिमटते गये। वहाँ वे अच्छी तरह बस गये और मजबूती से संगठित हो गये। महर्षि अगस्त्य पहले आर्य थे जो विन्ध्याचल को पार कर दक्षिण गये। वहाँ उन्होंने प्रेम और सद्भावना से द्राविड़ों को मिलाना शुरू किया। कहते हैं

अगस्त्य ने सर्वप्रथम आर्यभाषा के प्रचार और प्रसार के लिए एक अद्भुत नीति अपनायी। आज से हजारों साल पहले भाषा-विवाद के हल का सहज समाधान उनके दिमाग में पैदा हुआ। सम्भवतः उसी समय सारे देश के लिए एक राष्ट्रभाषा का सवाल पैदा हो गया था। आर्य प्रचारकों को द्राविड़ो के बीच काम करने मे भाषा की भिन्नता के कारण कठिनाई हो रही थी। द्राविडभाषा एक अत्यन्त सबल और सप्राण भाषा थी। हम जान चुके है कि उनकी एक अपनी महान् सभ्यता भी थी। ऐसी स्थिति में यह सम्भव नहीं था कि द्राविड़भाषा की उपेक्षा कर दी जाये। दक्षिण मे आर्यभाषा का प्रचार और प्रसार द्राविड़भाषा के अस्तित्व की रक्षा को सम्पन्न करके ही किया जा सकता था। अगस्त्य ने इस तथ्य का अनुभव किया और उन्होने पहले-पहल द्राविड़-भाषा को नये रूप से संगठित किया। उन्होंने "अगत्रियम" नाम का पहला व्याकरण लिखा। उनके प्रसिद्ध शिष्य तोल्काफियन ने अगत्रियम के आधार पर "तोल्काफियम्" नाम का दूसरा तमिल व्याकरण लिखा। अपनी सेवाओं के कारण अगस्त्य तमिलभाषा के पिता कहलाये। यद्यपि इस सम्बन्ध में, इतिहासकारो में मत-भेद है, फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अगस्त्य के प्रयासों के फलस्वरूप दोनों भाषाओं में काफी घुलन-मिलन हुआ और यह सिलसिला सदियों तक चलता रहा। इससे एक तरफ आर्यभाषा का दक्षिण में खूब प्रचार हुआ तो दूसरी तरफ खुद तमिलभाषा ने पचास प्रतिशत से भी अधिक संस्कृत शब्दों

को अपने शब्दकोश में दाखिल कर अपने को और भी सम्प
तथा सशक्त किया। द्राविड़ों का महान् नेता रावण संस्कृत क
महापंडित था। उसने वेदों का भाष्य लिखा। दूसरे अनेक द्रावि
महापुरुषों ने भी संस्कृत को अपनाकर इसकी अभिवृद्धि का प्रयत्न
शुरू कर दिया। इससे प्रमाणित होता है कि आर्यभाषा के प्रति
द्राविड़ आकर्षित हो चुके थे। हिमालय से लंका तक फैली हुई आय
द्राविड़, निषाद आदि जातियों के अपने विचारों के आदान-प्रदान
के माध्यम के रूप में क्लिष्ट वैदिक सस्कृत के स्थान पर सरल
लौकिक सस्कृत प्रतिष्ठित हो चुकी थी। पर इसके दो सौ व
बाद ही बुद्ध के समय में भाषा के क्षेत्र में एक नया आन्दोलन होते
देखा जाता है। संस्कृत वर्ग विशेष कट्टरपन्थी ब्राह्मणों की
साहित्यिकभाषा बन गई थी। आम जनता से वह बहुत दूर हट
गई थी। इसलिए जनता की बोलचाल की भाषा प्राकृत को प्रश्रय
मिला। यह भाषा पूर्वी भारत में जहाँ बुद्ध ने अपने धर्म क
प्रचार किया, फैली हुई थी। यह संस्कृत का परिवर्तित रूप थ
और इस पर अनार्य उपादानों का इतना अधिक असर पड़ चुक
था कि पश्चिम भारत के आर्यों को इसके समझने में काफी कठि-
नाई होती थी। उस समय आर्य दक्षिण के लोगों को आसुरं. या
राक्षस या बर्बर और भगटालू बोली वाला कहते थे। इसलिए
आर्यों का इसके प्रति कोई स्नेह नहीं था। फिर भी बुद्ध औ
महावीर ने इसी लोकभाषा में अपने उपदेश दिये। बुद्ध का यही
आग्रह था कि सभी लोग उनके उपदेश को अपनी मातृभाषा में

ही ग्रहण करें। वास्तव मे वाणी और मन की स्वतंत्रता के विचार से यह एक क्रान्तिकारी आन्दोलन था। बौद्धों और जैनों के अपनाने से इस बोलचाल की भाषा का बहुत तेजी से प्रचार और प्रसार हुआ। यह सिलसिला अनेक सदियों तक चलता रहा। लगभग एक हजार वर्षों तक यानी बुद्ध से लेकर अशोक तक इस प्राकृत भाषा का बोलबाला रहा।

अशोक के बाद से लेकर मुसलमानों के आने के समय तक राजाओं का आश्रय पाकर संस्कृत फिर फलने-फूलने लगी। पर इस संस्कृत पर प्राकृत का काफी असर था। संस्कृत नाटकों में स्त्रियों, शूद्रों या छोटी जाति के पात्रों के लिए संस्कृत के स्थान पर प्राकृत का प्रयोग है। बौद्ध लेखकों ने कहीं-कहीं प्राकृत मिश्रित संस्कृत का प्रयोग किया है। ललित विस्तर और महावस्तु आदि बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार की अर्द्ध संस्कृत का नमूना मिलता है। कालिदास के नाटकों पर प्राकृत का पर्याप्त प्रभाव है। जो भी हो, यह युग संस्कृतभाषा और साहित्य के लिए स्वर्ण युग कहा जायेगा। इसी युग में इसने भारत से बाहर सांस्कृतिक दिग्विजय का श्रीगणेश किया और बृहत्तर भारत का सपना साकार हुआ। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सारे भारत को एक सूत्र मे बाँधने की अपनी शक्ति के कारण भारत के इतिहास में संस्कृत का महत्व सदा सोने के अक्षरों में लिखा जायगा। उत्तर भारत की तरह दक्षिण भारत मे भी इस युग मे संस्कृत का दौर दौरा था। पर दक्षिण में संस्कृत के साथ-साथ वहाँ की प्रादेशिक

भाषाओं का भी विकास हो रहा था। द्राविड़ कुल की भाषाएँ तमिल, कन्नड, तेलगू और मलयालम अपने-अपने क्षेत्रों में फल-फूल रही थीं।

अन्तिम तीन भाषाएँ कन्नड़, तेलगू और मलयालम तो तमिल से ही निकली हुई हैं। पर फिर भी इन तीनो पर संस्कृत का सर्वाधिक प्रभाव है। खुद इनकी माता तमिल पर संस्कृत के प्रभाव का जिक्र पहले किया जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से तो द्राविड और भारतीय आर्य कुल की भाषाएँ एकाकार हैं ही। दोनो परिवारों की भाव-भूमि एक ही है। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत इत्यादि की कथावस्तु ही इन सब में समान रूप से ओत-प्रोत है। हिन्दी के सन्त कवि तुलसी के बहुत पहले ही बारहवी सदी में तमिलभाषा के महाकवि कम्बन ने रामायणम् या रामावतारम् नाम का तमिल का सबसे बडा महाकाव्य लिखा। आंध्र के वेंगी ग्रामनिवासी कन्नड़ कवि शिरोमणि पम्पा ने दसवीं सदी में वेदव्यास की परम्परा में "विक्रमार्जुन विजय" या "पम्पा-भारत" महाकाव्य लिखा। तेलगू के कवि-ब्रह्मा तिक्कन ने तेरहवीं सदी में रामायण और महाभारत का गान तेलगू में किया। मलयालम के चौसर रामपणिक्कर ने पन्द्रहवी सदी में रामायणम् लिखकर मलयालम का गौरव बढ़ाया। इसी तरह अनेक कवियों, लेखकों और सन्तो ने इन भाषाओं की श्रीवृद्धि एक ही रागात्मक धरातल पर की है। इसलिए यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न देह धारण करने पर भी इन सभी भाषाओं की आत्मा एक ही है।

मुसलमानों के भारत में आने के बाद भारतीय भाषाओं के सामने एक नया सवाल पैदा हुआ। फारसी और अरबी भाषा का सिक्का यहाँ जमने लगा। संस्कृत की जीवनी-शक्ति सूखने लगी। राज्य के आश्रय के अभाव के कारण उसका विकास रुक गया। जनता से वह इतनी दूर जा चुकी थी कि वह एक प्रकार से मृत-भाषा मानी जाने लगी। फारसी और अरबी की लिपि ही भिन्न नही थी, वरन् उनका शब्दकोश और उनकी सांस्कृतिक भूमिका भी भिन्न प्रकार की थी। मुसलमान बादशाहों और सुलतानों ने फारसी को राजभाषा के रूप में मान लिया। फलतः शासको की भाषा होने के कारण इसका दबदबा बढ़ने लगा। पर भारत ने सदा ही नई समस्याओं का सामना समन्वय की प्रवृत्ति दिखलाकर किया है। प्राकृत और अपभ्रन्श से नई प्रादेशिक भाषाओं का निकालना शुरू हुआ। हिन्दी, बँगला, उड़िया, आसामी, गुजराती, मराठी, कश्मीरी, पंजाबी आदि भाषाएँ पनपने लगीं। इन भाषाओं ने अपनी सरलता के कारण सुदूर देहातों में बसने वाली मुसलमान जनता को अपनी ओर खींच लिया। बंगाल के मुसल-मानों की मातृभाषा धीरे-धीरे बँगला हो गई। लगभग यही हाल दूसरी जगहों में भी हुआ। बहुत-से मुसलमान कवियों ने इन भाषाओं में अपनी रचनाएँ लिखीं। अमीर खुसरो, जायसी, कबीर, खानखाना रहीम, रसखान आदि मुसलमान कवियों की देन हिन्दी कभी नहीं भुला सकती। फारसी और अरबी के अनेक शब्द धीरे-धीरे इन भाषाओं में जज्ब होते गये। सरकारी नौकरी चाहने वाले बहुत-से हिन्दुओं ने फारसी पढ़ना शुरू कर दिया। इन सब

का नतीजा हुआ फारसी मिश्रित हिन्दी के एक रूप अर्थात् उर्दू का जन्म। शब्दावली की दृष्टि से उर्दू हिन्दी से कोई अलग भाषा नहीं है। फारसी लिपि में लिखी जाने पर ही वह अपना अलग अस्तित्व दिखाती है। गाँधी जी ने इसी हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी को भारत की राष्ट्रभाषा के लिए उपयुक्त समझ उसके प्रचार और प्रसार का आन्दोलन शुरू किया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के संविधान ने भारतीय आर्यभाषा-कुल और द्राविड़-भाषा-कुल की मुख्य चौदह भाषाओं को, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार कर लिया। इन भाषाओं में हिन्दी या हिन्दुस्तानी को सारे देश के राजकाज की भाषा के रूप में मान्यता दी गई है। इधर अंगरेजी भाषा जो अंगरेजों के लगभग दो सौ वर्षों के यहाँ के शासन काल की राज-भाषा थी, को ही राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन शुरू किया गया है। संख्या की दृष्टि से उत्तरी चीनी, अंगरेजी और हिन्दी का स्थान सारे संसार में क्रमशः पहला, दूसरा और तीसरा होता है लिपि की दृष्टि से देवनागरी लिपि संसार की सबसे अधिक वैज्ञा-निक लिपियों में प्रमुख स्थान रखती है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से वैदिक संस्कृत से लेकर आज तक की सारी आर्य, द्राविड़ निषाद, यूनानी, शक, हूण, मुस्लिम और ईसाई संस्कृतियों की निधि इसमें संचित है। राष्ट्रीयता की दृष्टि से भारत ने अपने इतने बड़े इतिहास मे कभी भी ऐसी किसी विदेशी शासक जाति की भाषा को नहीं अपनाया जो यहाँ विजेता बनकर आ
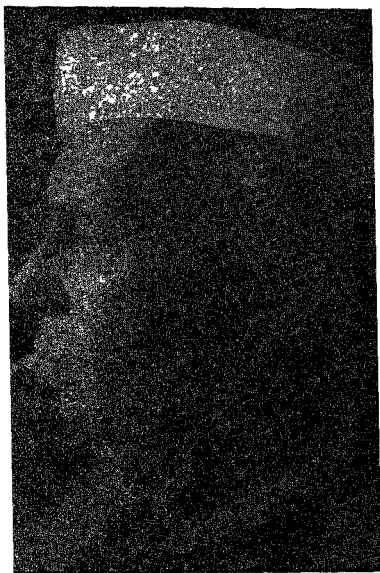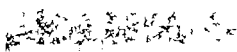
ररना है कि वे किस भाषा को राष्ट्र भाषा बनावें। सौभाग्य से इस समय भारत को इसके प्रधान मंत्री के रूप में महान् उदारता और समन्वयवादी युग पुरुष श्री जवाहरलाल नेहरू का नेतृत्व प्राप्त है। भाषा-विवाद के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े ही स्पष्ट और सुलझे हुए हैं। अगस्त्य से लेकर वेदव्यास, बुद्ध, अशोक, कबीर और गाँधी तक भारतीय भाषाओं में समन्वय के लिए जो गौरव-प्रयास हुए हैं, उनसे वे एक इतिहासज्ञ के नाते भली-भाँति परिचित हैं। भारतीय जनता का उन पर अटूट विश्वास है और इसलिए विश्वास है कि वे इस समस्या के समाधान में सफल होंगे।

धार्मिक एकता की कहानी

बुद्ध से गाँधी

६

★

अनेक जातियों के संगम-स्थल भारत उपमहादेश में अनेक धार्मिक मतवादों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर इस क्षेत्र मे भी एकता की एक अद्भुत प्रवृत्ति प्रारंभ से ही पायी जा रही है। बराबर समन्वय और मेल-जोल की क्रिया सक्रिय रही है। धर्मों का पहला बड़ा समन्वय और मेल-जोल आने वाले आर्यों और सिन्ध घाटी की सभ्यता के प्रतिनिधि द्राविडों में हुआ। वास्तव में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति जिस धातु-शब्द से हुई

है उसका अर्थ ही है एक साथ पकड़ना। इस प्र
रेलिजन से इसका अर्थ बहुत ज्यादा विस्तृत
व्यापक अर्थ के कारण इसने सदा सबको अपने
रखने का प्रयत्न किया है।

महात्मा बुद्ध

वैदिक-धर्म में मूर्ति-पूजा नहीं थी और न उ
के मन्दिरों की स्थापना ही होती थी। वैदिक
प्रश्न पर ज्यादा ध्यान नहीं देते थे। वे प्रकृति
वरुण, वायु आदि की पूजा करते थे। द्राविड़
पर इसमें अनेक परिवर्तन हुए और आर्य तथा
पर्याप्त समन्वय हुआ। आर्य शिश्नदेवा द्राविड़ों
ऋग्वेद में कर चुके थे, पर द्राविड़ों और इ
संख्या इतनी अधिक थी कि उन्हें शिव को अ
आत्मसात करना पड़ा। इस प्रकार लिंगोपास
इसमें हुआ। वैदिक [illegible]

की देवी का आत्मसात पति-पत्नी के रूप में हुआ। इससे शाक्त मत का प्रचार हुआ। इस समन्वय के फलस्वरूप मन्दिरों की स्थापना तथा मूर्ति-पूजा की प्रथा प्रारंभ हुई। शिव और देवी की पूजा के आर्यों में समावेश के अतिरिक्त कर्म तथा परलोक के सिद्धान्त, योग-साधना, वैदिक हवन-पद्धति के स्थान पर नई पूजा-रीति तथा अन्य बहुत सी द्राविड़ों की वस्तुएँ भी धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म और विचार में आ गईं। उनके बहुत से ऐहिक संस्कार और सामाजिक तथा दूसरी रूढ़ियाँ भी हिन्दू-धर्म में समाविष्ट हो गईं। चावल, इमली और नारियल इत्यादि शाक-फूलों की खेती, पान का धार्मिक पूजन-अर्चन में उपयोग, धोती और साड़ी की विशिष्ट भारतीय पोशाक, सिन्दूर और हल्दी का व्यवहार इत्यादि सभी पूर्वार्य उपादान हैं जिनका हिन्दू-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आर्य और द्राविड़ तत्त्वों का इतना अधिक समन्वय हुआ कि वैदिक-धर्म का एक प्रकार से रूप ही बदल गया। नई परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लेने की इस विशेषता ने भारतीयों को महान् ऐतिहासिक उलट-फेर के बावजूद भी जीवित रखा है। हिन्दुओं का प्रायः सभी महान धार्मिक ग्रन्थों ने इसी सामंजस्य-वादी नीति का बराबर पुकार-पुकार कर समर्थन किया है। उपनिषद और महाभारत तो इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। गीता ने भगवान् कृष्ण ने कहा है कि सभी रास्ते मुझ तक पहुँचाते हैं। इसी व्यापकता के कारण सभी वर्गों और सम्प्रदाय के लोगों को

गीता मान्य हुई है। इसमें विषमता के बीच में भी हम एकता और संतुलन पाते हैं। इस प्रकार हिन्दू-धर्म आर्य और पूर्वार्य तथा इनके बाद आने वाली अनेक जातियों के पारस्परिक चिन्तन-मनन, अनुशीलन-अन्वेषण, नीति-रीति, आचार-विचार की सम्मिलित एवं समन्वित देन है। यह अपने अनुयायी को विचार और पूजा की जैसी स्वतंत्रता देता है, वैसी आज तक संसार में किसी धर्म ने नहीं दी है। चाहे वह एक परमेश्वर को माने या अनेक देवी-देवताओं की उपासना करे, द्वैतवादी हो या अद्वैत-वादी, कर्मकांडी हो या नास्तिक, सबके लिए इस धर्म के अन्दर स्थान है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "डिस्कवरी ऑफ इंडिया" में लिखा है—"हिन्दू-धर्म की मुख्य भावना यह मालूम पड़ती है कि अपने को जिन्दा रखो और दूसरे को भी जीने दो।" "अहिंसा परमो धर्म" और "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्त के रूप में हिन्दू-धर्म ने सामञ्जस्य का सर्वव्यापी आदर्श संसार के सामने रखा है। सबसे ऊँचा समन्वयवादी आदर्श जिसकी कल्पना मानवी मस्तिष्क कर सकता है—अहिंसा है।

ई० पू० छठी सदी से लेकर प्रियदर्शी अशोक के कुछ और बाद तक भारत में बौद्ध-धर्म का बोलबाला रहा। यह वैदिक कर्म-कांड, पुरोहितवाद और जात-पाँत के विरुद्ध क्रान्तिकारी अभियान था। इसने भी मध्यम मार्ग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। विचार और चिन्तन की स्वतन्त्रता के क्षेत्र में बौद्ध धर्म ने क्रान्ति ला दी। आज से ढाई हजार वर्ष पहले मनुष्य मात्र की समानता

और स्वतन्त्रता का अमर सदेश इसने संसार को दिया। पर हिन्दू-धर्म की अपने अन्दर समेट लेने की शक्ति ने इस धर्म को भी भारत-भूमि मे अपने अन्दर पचा लिया। साथ ही हिन्दू-धर्म भी इस धर्म से कम प्रभावित नही हुआ। वास्तव मे हिन्दू-धर्म के बहुत से मौलिक तत्त्व बौद्ध-धर्म मे सन्निहित थे ही। फिर यह और जैन-मत शत प्रतिशत भारतीय विचार-धारा और सस्कृति के उपज थे। इसलिए स्वभावत' ये धर्म एक दूसरे से प्रभावित हुए और अन्त मे हिन्दू-धर्म ने बुद्ध देव को अपने अवतारो मे स्थान देकर एक प्रकार से उसे आत्मसात कर लिया। इस सम्बन्ध में गीत गोविन्द की ये पंक्तियॉ बहुत प्रसिद्ध हैं—

"निन्दसि यज्ञ विधेरह रहः श्रुतिजानम्
सदय हृदय दर्शित पसुघातम्
केशवधृत बुद्ध शरीर, जय जगदीश हरे।"

इस दिशा मे दक्षिण के शंकराचार्य, कुमारलिभट्ट आदि महान् सुधारको ने बहुत बड़ा कार्य किया। शकरचार्य ने बौद्ध-संघों के आधार पर सारे भारत मे मठों की स्थापना की और बौद्ध भिक्षुओ की तरह संन्यासियों का दल संगठित किया। उन्होने कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक सारे भारत को अपना कार्य-क्षेत्र माना और उसमें एक सांस्कृतिक एकता का अनुभव किया। वे समझते थे कि बाहरी रूप चाहे जितने भिन्न हो पर वह एक ही भाव से भरा हुआ है। उन्होंने तत्कालीन भारत मे विचार की बहती हुई अलग-अलग धाराओं मे समन्वय पैदा करने का

पूरा यत्न किया और इस बात पर सदा ध्यान रखा कि
के बीच से एकता पैदा हो। उन्होंने बत्तीस वर्ष की
सारे देश का भ्रमण किया और उसके चार छोरों
मठ स्थापित किए। इनमें एक-एक बीच हिमालय में,

शंकराचार्य का उत्तर अभियान दक्षिण का उत्तर पर सांस्कृ
था। उत्तर ने ही केवल दक्षिण को सदा प्रभावित कि
ऐसी बात नहीं।

दूसरा पश्चिमी समुद्र तट पर द्वारका में, तीसरा
तट पर पुरी में और चौथा मैसूर में शृंगेरी में था।
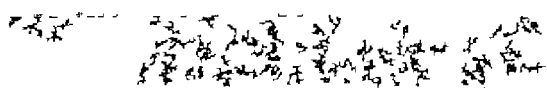
बतलाता है कि हिमालय से कन्याकुमारी तक सारे देश की एकता का चित्र उनके मस्तिष्क में हमेशा मौजूद रहता था। वास्तव में शकराचार्य का उत्तर अभियान दक्षिण का उत्तर पर सास्कृतिक दिग्विजय था। अगस्त्य से लेकर बुद्ध और अशोक तक उत्तर दक्षिण पर यदि छाया रहा तो शंकराचार्य से लेकर विजय नगर साम्राज्य के अन्तिम दिनो तक दक्षिण उत्तर पर छाया रहा। यह कोई तलवार के बल पर स्थापित दिग्विजय नहीं था। यह तो भाई-भाई का आवश्यकतानुसार आड़े समय मे एक दूसरे की सहायता के लिए प्रेम और सद्भावनापूर्ण समागम था।

अखिल भारत की एकता के सूचक के रूप मे भारत के चार छोरों पर मठों की स्थापना जैसे अन्त अनेक प्रयत्न भी धार्मिक क्षेत्र मे हुए हैं। देश के भिन्न-भिन्न हिस्से मे तीर्थ स्थानों की स्थापना का उद्देश्य भी यही था कि सुदूर प्रातों के तीर्थ यात्रा के बहाने अपने दूरस्थ भाइयों से वर्ष मे एक बार गले से गले मिलेंगे। प्रयाग, हरिद्वार, नासिक और उज्जैन में जो देश के सुदूर प्रांतों मे स्थित हैं, बारह वर्ष पर कुंभ मेले के आयोजन का का अर्थ भी यही था। प्रत्येक हिन्दू प्रात जागरण के समय भारत को सात पवित्र नगरो अयोध्या, मथुरा, माया (हरद्वार), काशी, कॉची (कांचीवरम), अवन्तिका (उज्जैन) और द्वारावती (द्वारका) का देश कह कर उसकी वन्दना करता है। धार्मिक पूजन, यज्ञ आदि कृत्यों के अवसर पर प्रत्येक हिन्दू सारे भारत

की प्रमुख पवित्र नदियों के जल से अपने को शुद्ध करता है—

"गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरू"

इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त पुराण ने छः देवताओं के पूजन का विधान किया है—

"गणेशं च दिनेशं च वह्नि विष्णु शिवं शिवाम्
संपूज्य देवषटक सोऽधिकारी च पूजने"

इन देवताओं मे आर्यो के वैदिक देवता सूर्य अग्नि, विष्णु आदि जहाँ सम्मिलित है, वहाँ पूर्वार्यो के शिव, देवी और गणेश भी शामिल है। समन्वय का यह कैसा सुन्दर उदाहरण है ? प्रभात कालीन प्रार्थना में पंचकन्याओं का बड़ा महत्व है। ब्रह्मवेला मे नींद खुलते ही हिन्दू मात्र के कठ मे यह श्लोक स्वतः फूट पड़ता है।

"अहिल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती, मन्दोदरी तथा
पंचकन्याम् स्मरेन्नित्यम् महापातक नाशनम्।"

इसमें भी आर्य और द्राविड़ तत्वों का सुमधुर समन्वय है। अहिल्या, द्रौपदी और कुन्ती आर्य ललनाएँ हैं तो तारा और मन्दोदरी द्राविड ललनाएँ। दक्षिण भारत के द्राविड़ कजगम वाले क्यों इन वाक्यो को भूल जाते हैं ?

हमारे ऋषियों ने पुकार कर कहा—

"दुर्लभं भारते जन्म।"

किसी ने भी नही कहा कि दुर्लभं मद्रासे, वंगे या महाराष्ट्रे जन्म। क्या तात्पर्य है इसका? स्पष्ट ही इसका अर्थ है कि हमे भारत के बारे में अलग-अलग खंडों में, प्रांतो मे, भागो मे नही सोचना है। देवताओं तक को लुभाने वाली यह भारत-भूमि एक है, अखंड है और अटूट है। सनातन काल से हमारे ऋषि, मुनि, साधु-संत, दार्शनिक, सुधारक काशी के गगा-जल से रामेश्वरम् के महादेव शकर को अभिसिक्त कर धन्य-धन्य होते रहे है। नर्मदा या दक्षिण की गंगा कावेरी मे स्नान करने वाले व्यक्ति के मुख से गंगे-गंगे शब्द अनायास ही गूँज उठते है।

ग्यारहवी-बारहवी ई० सदी मे मुसलमानो का आगमन शुरू हुआ। शताब्दियो तक ये लोग आते गये और बसते गये। पर ये लोग भी हिन्दू-मत के प्रभाव से अछूते नहीं रहे। यद्यपि इस्लाम एक नया धर्म था और उसमे नया उफान था, फिर भी सदियों तक हिन्दू-जीवन के सम्पर्क मे रहने के कारण मुसलमानों में उनके बहुत से विश्वास, रस्म-रिवाज रहन-सहन के तौर-तरीके, पूजन-अर्चन के विधि-विधान घुल-मिल गये। प्रसिद्ध इतिहासकार विसेन्टस्मिथ ने लिखा है—

"विदेशी (मुसलमान, तुर्क) अपने पूर्वजों शकों और यूची की तरह हिन्दू-धर्म की सोख लेने की अद्भुत शक्ति के वश में हुए और तेजी के साथ उनमे हिन्दू-पन आ गया।'

हिन्दू और इस्लाम धर्मों में सामंजस्य के महान् प्रयत्न बड़े-बड़े सुधारकों और शासकों ने किये। कबीरदास एक मुसलमान जुलाहा थे। पर उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों का ध्यान सार्वजनिक धर्म की ओर आकृष्ट किया जिस पर दोनों साथ-साथ चल सकें। सूफीमत ने भी इस दिशा में बहुत काम किया। गुरु-नानक का सारा उपदेश हिन्दू और इस्लाम धर्मों के मूल सिद्धांतों का समन्वय मात्र है। कबीर मुसलमान और नानक जन्मना हिन्दू थे, फिर भी वे उस सम्मिलन के परिणाम थे जो बाहरी पार्थक्य और विभेद के होते हुए भी जारी था। मुसलमान शासकों ने जागीरें दीं। अकबर ने एक नया धर्म ही चलाया। उसने "दीने इलाही" में सभी धर्मों की मुख्य-मुख्य बातों का समावेश किया और इसी को मानने के लिए उसने सबको प्रेरित किया। दारा-शिकोह ने अकबर के रास्ते का अनुसरण किया।

धार्मिक सहयोग और सहिष्णुता की यह धारा प्रारम्भ से प्रवाहित होती हुई अब तक इस देश में नवजीवन संचार करती रही है। खास हिन्दू-धर्म के अन्दर भिन्न-भिन्न मतवादों के बीच भी सामंजस्य का भरपूर प्रयत्न होता रहा है। रामानन्द, रामानुज, तुलसीदास, चैतन्य आदि के नाम इस क्षेत्र में लिए जा सकते हैं। ब्रिटिश शासन काल में भी यह धारा अवरुद्ध नहीं हुई। उन्नीसवीं सदी में बंगाल में राजा राम मोहन राय हुए। उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। वे पूजा-पाठ और धार्मिक कर्म-काण्ड का विरोधी थे। दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की

पना करके जात-पाँत का विरोध किया। रामकृष्ण परमहंस
र विवेकानन्द आदि ने भी उस दिशा में बहुत कार्य किये।
त में प्राचीन काल से लेकर अब तक कार्यरत भारतभूमि की
भाविक समन्वय और एकता की महान् राष्ट्रीय प्रवृत्ति के
ीक के रूप में महात्मा गाँधी का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने हिन्दू,
लाम, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, सिक्ख इत्यादि सभी धार्मिक
वादों के बीच सुखद भ्रातृत्व की भावना स्थापित करने का
ीरथ प्रयत्न किया। उनकी प्रार्थना में सभी जाति के लोग
लगना भूल कर एक मानव धर्म के भाव से अभिप्रेरित हो भाग
थे। सभी धर्मों की मुख्य-मुख्य स्तुतियाँ उनके प्रार्थना-स्थल में
ती थी। उनका सन्देश था—'मानव मात्र एक है। धर्म,
त, भाषा, रंग की भिन्नता के कारण कोई न बड़ा है, न छोटा,
ऊँच है, न नीच, सब समान और स्वतन्त्र हैं।' इन्हीं उदारता-
ी विचारों के कारण एक संकीर्णतावादी हिन्दू के हाथ ने
की हत्या कर दी। पर फिर भी स्वतन्त्र भारत उनके सपने
साकार करने का प्रयत्न कर रहा है। भारत आज निरपेक्ष
ट्र है। सबको धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। आज के स्पुटनिक
में धर्म का स्थान गौण हो गया है। यदि धर्म के वास्तविक
 "सबको एक साथ पकड़ना" के अनुसार मनुष्य आत्मिक
 में विश्वमानव की भावना का विकास करे तो संसार में
चे सुख और शान्ति की स्थापना सम्भव हो सकती है।

कलाओं में समन्वय की कहानी

भरत मुनि से अवनीन्द्र नाथ ठाकुर

७

★

भारत मे अन्य क्षेत्रों की तरह कला के क्षेत्र मे भी समन्वय और एक भारतीय दृष्टिकोण की प्रवृत्ति काम करती रही है। यद्यपि विभिन्न भागों में विभिन्न कलाओं का स्वाभाविक विकास होता रहा है, फिर भी एक राष्ट्रीय कला की ओर रुझान सर्वदा यहाँ मौजूद रहा है और उसमें सम्पन्नता भी मिलती रही है। ऐसा कला के प्रतिपाद्य विषय, उसके टेकनीक दोनों क्षेत्रों मे हुआ है। आगे हम इसी का विवेचन संक्षेप मे करेंगे।

क्या संगीत, क्या नृत्य, क्या चित्र, क्या मूर्त्ति, क्या गृह-निर्माण; सभी कलाओं में एक ही भारतीय मनोभावना शुरू से काम करती दिखाई पडती है। वह मनोभावना है सच्चे आनन्द या मोक्ष की उपलब्धि। यह सच्चा आनन्द या मोक्ष उस परमात्मा में अपने को लय करके ही मिल सकता है जो अखंड है और जो ऋषि या पापी सबको प्राप्त हो सकता है। यह नाना जीवात्माओं का एक परमात्मा मे पूर्ण मिलन है और इस कार्य में कला एक सत्य, शिव, सुन्दर साधन है। इसलिए भारत में कला का सम्बन्ध आदिकाल से ही धर्म मे रहा है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे भारतीयों ने धार्मिक भावना को किसी न किसी कला के माध्यम से प्रदर्शित किया है। धार्मिक भावना के आधिपत्य के कारण ही कला की उत्पत्ति किसी न किसी देवता या ऋषि से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से भारतीयकला में शिव और पार्वती का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। नृत्य और संगीत कलाओं का उद्गम इन्ही से माना जाता है। भरत ऋषि जो भारतीय नृत्य और संगीत के जनक माने जाते है, कोशिव के एक गण तंडु ने तांडव नृत्य सिखाया। बाणासुर की पुत्री और कृष्ण के पोते अनिरुद्ध की पत्नी उषा को पार्वती ने लास्य नृत्य की शिक्षा दी। उषा ने उसे द्वारिका की ललनाओं को सिखाया और इस प्रकार यह भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित हुआ। संगीत के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात मानी जाती है। भरत मुनि ने सर्व प्रथम स्वर्ग की अप्सराओं को इसकी शिक्षा दी और इन्होंने बाद मे शिव के सम्मुख

इसको प्रस्तुत किया। नारद मुनि ने, जो अपनी वीणा बजाते और गाते हुए स्वर्ग तथा पृथ्वी का परिभ्रमण करते रहे हैं, पहले पहल मनुष्य को संगीत की शिक्षा दी। आर्यों में मूर्तिकला का प्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। एक मंत्रकार अपने मंत्र में पूछता है—"कौन मेरे इन्द्र को मोल लेगा।" इससे स्पष्ट इन्द्र की मूर्ति अभिप्रेत है, जिसे इस मन्त्रकार ने बनाया था और पूजता था। चित्रकला का स्पष्ट उल्लेख उषा-अनिरुद्ध प्रसंग मे मिलता है। उषा की एक सखी उसे भारत के बड़े-बड़े राजा-महाराजा और राजकुमारो के चित्र दिखाती है। उन चित्रो में जब वह अनिरुद्ध का चित्र देखती है, तब वह अपने सपने में देखे हुए प्रेमी को पहचान लेती है। इससे साफ पता चलता है कि भारत मे चित्रकला उस समय तक काफी विकसित हो चुकी थी। वस्तुतः चित्रकला, मूर्तिकला और भवन निर्माणकला का पर्याप्त विकसित रूप में हमें मोहनजोदड़ो युग में ही प्राप्त हो जाता है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से जो सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं, वे इसके प्रमाण हैं। मोहनजोदड़ो में प्राप्त चित्रलिपि, जो अब तक पढ़ी नही जा सकी है, स्वतः प्रकट करती है कि चित्र निर्माण के प्रति कैसी विकसित रुचि उस समय थी। वहाँ के पक्की ईंटो के बने मकान गृह निर्माणकला के जीते-जागते सबूत हैं। मोहनजोदड़ो मे भूमि स्पर्श मुद्रा मे पद्मासन लगाये एक योगी की मूर्ति पाई गई है। यह स्पष्ट बुद्ध की मूर्ति का पूर्व रूप प्रतीत होता है। इससे पता चलता है कि द्राविड़ो मे योग साधन मौजूद था। आर्य
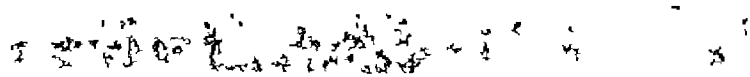
धर्म ने इनसे यह ग्रहण किया। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध सभी धर्मों में यह पाया जाता है। इन बातों से हम स्पष्टतः कुछ खास निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। शिव और पार्वती पूर्वार्य द्राविड़ो के देवता है—यह एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में मान्य हो चुका है। ये ही भारतीय संगीत और नृत्यकला के आदि देव हैं। आर्य धर्म, भाषा, जाति आदि के क्षेत्र में जिस प्रकार द्राविड़ों से प्रभावित हुए, कला के क्षेत्र में भी ऐसा ही हुआ। उन्होंने बहुत-कुछ इन कलाओं को अपना लिया और पीछे चलकर सारे भारत की आत्मा इससे स्पंदित और झंकृत हो उठी। आर्य और पूर्वार्य न केवल उषा-अनिरुद्ध जैसे वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा दो शरीर एक प्राण हो रहे थे, वरन् इनकी कलाएँ भी एक दूसरे की श्रीवृद्धि करती हुई एकात्म हो रही थीं। भरत मुनि का स्थान इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति के इतिहास के आकाश में जगमगाते नक्षत्र के समान है। यदि अगस्त्य ने भारतीय संस्कृति की ध्वजा दक्षिण पूर्व एशिया के द्वीपों में फहराई, विश्वामित्र ने पूर्वार्य और आर्य जातियों को मिला कर एक भारतीय जाति का बीजारोपण किया और व्यास ने भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में एक भारतीय आत्मा की स्थापना की तो भरत मुनि ने तत्कालीन कलाओं की एकता-वृद्धि और उज्जीवित करके प्रत्येक भारतीय जन में सच्चे आनन्द की प्राप्ति यानी परब्रह्म में लय हो जाने, एकाकार हो जाने की भावात्मक भूमि प्रस्तुत की, जिससे बाह्य सांसारिक भेदों से ऊपर उठकर एक आध्यात्मिक एकता के सूत्र में गुँथ जाने की भावना उत्पन्न हुई।

मोहेनजोदड़ो युग के शताब्दियों बाद मौर्यकाल में कला के क्षेत्र में गतिशीलता दिखाई पड़ती है। कुछ इतिहासकार मौर्यकालीन कला की परम्पराओं का सम्बन्ध मोहेनजोदड़ो युग की कला से मानते हैं। यद्यपि इस अवधि का इतिहास अन्धकाराच्छन्न है, फिर भी यह मत भारतीय इतिहास की प्रवृत्तियों को देखते हुए सत्य के बहुत निकट प्रतीत होता है। जो भी हो, अशोक के समय में मूर्ति और वास्तुकलाओं का अद्‌भुत विकास हुआ। उसके स्तम्भ तत्कालीन मूर्त्तिकला के सार हैं। सारे संसार की उत्कृष्टतम मूर्त्तियों में इनका स्थान है। फाहियान ने अशोक के बनवाए हुए स्तूपों और महलों के बारे में लिखा है कि वे मनुष्य के नहीं, देवयोनि के बनाए हुए हैं। बौद्ध और जैन वास्तुकला ब्राह्मण वास्तुकला से बहुत अधिक प्रवाहित हैं। ब्राह्मण सम्प्रदाय में भवनों और मन्दिरों पर अपने प्रेमी गन्धर्वों के साथ नाना प्रकार की प्रेमपूर्ण क्रीड़ा करती हुई अप्सराओं की मूर्त्तियाँ बनाने की परम्परा थी। भारतीय जनता मे यह भाव बैठ गया था कि जिन भवनों और मन्दिरों पर ऐसी मूर्त्तियाँ न हों, वे पवित्र और धार्मिक नहीं। फलतः जब बौद्धों ने अपने पवित्र स्मृति-चिह्न बनाने शुरू किये तो उन्हें लाजिमी उसी ढंग की इमारत बनानी पड़ी। यहाँ स्पष्ट हम ब्राह्मण और तत्त्वों को कला के क्षेत्र में समन्वित होते देखते हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार जायसवाल ने 'अन्धकार युगीन भारत' नामक अपनी पुस्तक मे इस मत का प्रतिपादन किया है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तत्त्वों का यह

सम्मिश्रणकला के क्षेत्र मे आगे भी चलता रहा। साँची और भरहुत की मूर्त्तियों मे बुद्ध की प्रतिमा का नामोनिशान नही है। पर मथुरा शैली की मूर्त्तियो मे बुद्ध की मूर्त्तियाँ प्रचुर मात्रा मे मिलने लगती हैं। वस्तुत शु गकाल के बाद बौद्ध धर्म मे भक्ति का सिद्धान्त प्रवेश करने लगा। मन्दिर का निर्माण तो बौद्ध शु गकाल मे ही करने लगे थे। केवल उसमे प्रतिमा बैठाने भर की देर थी। जिस प्रकार उन्होने ब्राह्मणो से मन्दिर का नमूना लिया था, उसी प्रकार जैनो से बुद्ध की प्रतिमा के नमूने ले लिए। कुछ लोग ग्रीक देवता अपोलो के अनुकरण पर बुद्ध की प्रतिमा के निर्माण की बात कहते हैं। इसको भारतीय कला पर गाधार-कला का प्रभाव माना जाता है। लेकिन इधर अधिकाश इतिहासकार इस मत पर पहुँचे हैं कि बुद्ध की प्रतिमा का विकास मथुरा और गाधार मे स्वतत्र रूप से हुआ। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि इस युग में भिन्न-भिन्न धर्मो के तत्वों का समन्वय कला के क्षेत्र मे जोरो से हो रहा था। क्या उत्तर भारत के साँची, मथुरा, भरहुत, गाधार और क्या दक्षिण भारत के अजन्ता, अमरावती, और नागार्जुन कोडा सब जगह भारतीय कला भिन्न-भिन्न रूप मे विकसित हो रही थी। चाहे ब्राह्मण वादी मूर्त्ति, चित्र या भवन हो, चाहे बौद्ध वादी, चाहे जैन वादी सब एक दूसरे से प्रभावित हो रहे थे और एक भावात्मक आध्यात्मिक एकता का जीवित जाग्रत रूप उपस्थित कर रहे थे। वास्तविकता तो यह है कि मथुरा मे बुद्ध प्रतिमा के विकास से

भारतीयकला में एक नया युग शुरू हुआ और बाद के सैकडों वर्षों तक भारत ने बुद्ध तथा अन्य देव मूर्त्तियों के द्वारा अपने आध्यात्मिक आदर्शों को ठोस मूर्त्त रूप देने में अपने सर्वोत्तम कला प्रयत्नो को प्रवृत्त किया।

भारतीयकला का चरम उत्कर्ष गुप्तकाल में हुआ। गुप्तकाल भारत के इतिहास में स्वर्णकाल कहा गया है। अजन्ता का सर्वोत्कृष्ट चित्रण इसी काल में हुआ। अजन्ता वाकाटक साम्राज्य में था। आर्यवर्त्त और दक्षिणापथ की संस्कृति को एक करके सारे देश को भारतवर्ष नाम के नीचे ले आने का बहुत-कुछ श्रेय वाकाटक वंश को है। इतना होते हुए भी गुप्त इतने सुसंस्कृत थे और उनकी कलाभिरुचि इतनी सक्रिय थी कि उस काल की समूची कला कृति पर गुप्त प्रभाव मानना पड़ता है। इसीलिए अजन्ता की चित्रकला को गुप्तकला के अन्तर्गत माना जाता है। कलात्मक और सांस्कृतिक दोनो दृष्टियो से अजन्ता एक अक्षय भंडार है। इसके चित्रों मे विश्व करुणा अंथ से इति तक पिरोई हुई है। सारे चराचर जगत् से इसके कलाकारों को पूर्ण सहानुभूति है। कुछ लोग अजन्ता की चित्रकला को बौद्धकला कहा करते हैं। पर भारत में ब्राह्मण,बौद्ध या जैनकला जैसी कोई वस्तु कभी नहीं रही। प्राचीनकला पर यदि कोई प्रभाव है तो राजनीतिक कालों का। भारत की कला मे कभी सम्प्रदाय परक भेद नहीं रहा। यह ठीक है कि विभिन्न सम्प्रदायों की विवेचनाओं का प्रभाव उनकी कलात्मक कृतियों पर पड़ा है पर उनका स्वरूप

रूप एक है। मूर्ति और वास्तु कलाओं का भी इस काल में पर्याप्त विकास हुआ। नाग-वाकाटकों ने अपने शैवमन्दिर बनवाये। गुप्तों ने वैष्णवमन्दिर निर्मित करवाये। सारनाथ और मथुरा में बुद्ध की मूर्तियाँ पाई गई हैं। देवगढ़, (झाँसी) और अन्य स्थानों में शिव, विष्णु और दूसरे ब्राह्मण वादी देवताओं की मूर्तियाँ मिली है। इन सभी कृतियों, खासकर अजन्ता की कलाकृतियों के विषय की व्यापकता और कलाकारों की सिद्धहस्तता तथा सवेदनशीलता पर विचार करने से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में भारतीयकला ने राष्ट्रीयकला का रूप धारण कर लिया था। तत्कालीन वाङ्मय से भी यही अवगत होता है। इतना ही नहीं, भारतीय कला भारत की सीमा लाँघ कर बौद्ध धर्म के पीछे-पीछे खुतन, चीन, कोरिया, जापान और दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न भागों में पहुँच कर अपनी जड़ जमा चुकी थी।

हर्षवर्द्धन के बाद का समय विच्छिन्न भारत का ह्रास युग [illegible]। मौर्य और, गुप्त सम्राटों के [illegible] में भारतीयकला ने जो व्यापक राष्ट्रीय रूप प्राप्त किया था वह केन्द्रीय शासन के अभाव में [illegible] लगा। पर सौभाग्य [illegible] दक्षिण ने भारतीय संस्कृति के संरक्षण का भार अपने ऊपर ले लिया। वास्तव में विजयनगर साम्राज्य के [illegible] दक्षिण भारतीय संस्कृति [illegible] शंकराचार्य रामानुज मध्व वल्लभ आदि के धार्मिक सुधार का [illegible] मध्ययुग का [illegible] ही

उत्तर भारत में आईं। इस जागृति ने कला पर भी अपनी छाप छोडी। नटराज की प्रसिद्ध मूर्त्तियों का निर्माण इसी काल मे दक्षिण, भारत मे हुआ। ये मूर्त्तियाँ इस जागृति के मूर्त्तरूप हैं। पल्लव चोल, चालुक्य, राष्ट्रकूट, और विजयनगर के राम राजाओं ने ससार प्रसिद्ध मन्दिरो का निर्माण कराया। इन मन्दिरों मे विश्व की उत्कृष्टतम प्रतिमाओं को प्रतिष्ठापना की। बाघ, बादामी, एलोरा, एलिफेंटा मामल्लपुरम, तजोर, त्रिचनापल्ली, मदुरा, श्रीरंगम, रामेश्वरम आदि के मन्दिर और उनकी प्रतिमायें इसके ज्वलत प्रमाण है। ये सब दक्षिण भारत शैली या द्राविड़ शैली के उत्कृष्टतम नमूने हैं। उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय शैलियो के मन्दिरों में मुख्यत: शिखर पिरामिड, के समान होता है। उत्तर भारतीय शैली के मन्दिरों के शिखर की कल्पना पर्वत श्रृंगों से ली गई है। हिमालय पर्वत शिव पार्वती तथा अन्य अनेक देवताओ का निवास माना गया है। इसलिए जब शिव के मन्दिरों का निर्माण शुरू हुआ तो कैलाश पर्वत के शिखर के समान शिखर की परि-कल्पना कलाकारो ने की। भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो (मध्य भारत) आदि के मन्दिर इस शैली के हैं। भारतीय संस्कृति में नट-राज प्रतिमा का बड़ा ऊँचा स्थान है। इसने सम्पूर्ण भारतीय जीवन को अनुप्राणित और स्पन्दित किया है। कुछ भारतीय कला मर्मज्ञों का विचार है कि भारतीय मूर्तिकला केवल दो कृतियाँ निर्माण करने में सफल हुई है—शान्ति और स्थिरता की अभि-व्यक्ति बुद्ध मूर्त्ति और गति एवं स्फूर्ति का निदर्शन नटराज

मूर्त्ति। नटराज मूर्त्ति की तात्त्विक व्याख्या ब्रह्मांड के अहर्निश नृत्य से और नये सृजन से गर्भित तांडव नृत्य से की जाती है। नृत्य को योग कहा गया है। नटराज शिव योगियों के योगी हैं। वे हमें सृष्टि सम्बन्धी नृत्य दिखाते हैं और प्राणियों की एकता चित्रित करते हैं। वे परमात्मा हैं। वे नृत्य करते हैं। परमात्मा श्रीकृष्ण वृन्दावन मे नृत्य करते हैं। गोपियाँ रास में उनके चारों ओर नाचती हैं। नृत्य के ताल में परमात्मा जीवों को जो उनसे अलग हो गए हैं, अपनी ओर खींचते हैं। प्रत्येक गोपी नृत्य के ताल मे श्रीकृष्ण को अपने पास पाती है। जीव जीवन के मूल स्रोत को जिससे वह निकला फिर पहचानता है। यही नटराज के नृत्य का विवेचन है। स्फटिक के समान यह बात साफ दिखाई पड़ती है कि भारतीयकला मानवमात्र को एक भावात्मक या आध्यात्मिक सूत्र में बाँधने का ऊँचा आदर्श सामने रखकर चलती रही है। यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि भारत में सभी कलाओं की एकता पर आरम्भ से ही जोर दिया गया है। इसीलिए भारत का नाट्यशास्त्र केवल नृत्य का ही वर्णन नहीं करता, वरन् संगीत, कविता, नाटक वस्तु आदि सब का वर्णन करता है। मनुष्य में जो कुछ भी सर्जनात्मक शक्ति थी, उसको उसने सबके स्रष्टा एक परमात्मा को समर्पित किया।

तुर्क-अफ़गान काल (१२०० ई० से १५०० ई०) में भारतीय-

सातवीं सदी से ही अपना प्रभाव डालना शुरू कर चुकी थी। यह
इस्लामीशैली भी अरबी, फारसी और तुर्की प्रभावों से समन्वित
थी। यह फलतः कोई स्वतंत्रशैली नहीं थी। स्थापत्यकला की
भारतीय और इस्लामीशैलियों में दो समानताएँ थीं—एक यह
कि मन्दिरों का प्रागण कमरों से घिरा होता है और दूसरी यह
कि दोनों शैलियाँ आलंकारिक होती हैं। फलतः दोनों शैलियों का
सम्मिश्रण देश के विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग हो रहा था
जिससे एक नवीन भारतीयशैली का विकास हो रहा था। दिल्ली
के कुतुबमीनार के हिन्दू कलाकारों पर मुस्लिम आदर्शों का
अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। जौनपुर के कब्र और भवन पर
जो शर्की खानदान द्वारा निर्मित हुए, हिन्दू प्रभाव की अधिकता
है। गुजरात और कश्मीर में भी यही बात दिखाई पड़ती है।
दक्षिण में बीजापुर की आदिलशाहियों के समय में मूल दक्षिण
कला का पुनरुत्थान हुआ। गुलबर्गा के जामी मस्जिद और दौलता-
बाद के चाँदमीनार पर भारतीय, तुर्की, मिश्री और फारसी तत्त्वों
का सम्मिलित प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस प्रकार सारे देश में
राजनीतिक कटुता के बावजूद भारतीय और इस्लामीकलाओं में
एकता स्थापित हो रही थी जो आगे चलकर मुगलकला खासकर
अकबरीकला की पूर्व पीठिका सिद्ध हुई। यहाँ यह स्मरण रखना
चाहिये कि मुस्लिम शासकों का मूर्तिकला या चित्रकला को अ
कोई स्थान नहीं था। मूर्तिपूजक नहीं होने के कारण उनका प्र
उनका विरोधी रुख था। पर आगे चलकर अकबर के समय में

धार्मिक कट्टरता के भाव में कुछ शीतलता आई, f
चित्रकला पर विशेष पड़ा । वास्तव में मुगलकाल स्था
का जमाना तुर्क-अफगानकाल में प्रारम्भ हुए कलात्म
चरम उत्कर्ष का काल है । औरंगजेब को छोड़कर :
वादिताकला को आश्रय नहीं दे सकती थी, सभी
बडे निर्माता थे । बाबर स्वय बहुत बड़ा निर्माता थ
शाहाबाद जिले का सासाराम का शेरशाह का म
मुस्लिम शिल्पकला का चमत्कार है । यह हिन्दू-मुस्लि
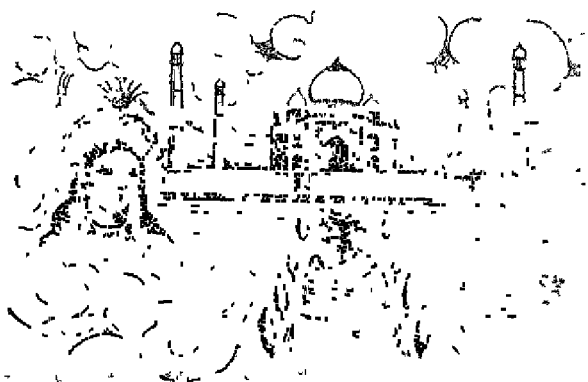
हिन्दू-मुस्लिम शिल्पकला के समन्वय का आदर्श न

के सुन्दर समन्वय का नमूना है । अकबर के शासनका
कला में विलक्षण विकास हुआ । अपनी माता हमीदाबा
विचारधारा से वह प्रभावित हुआ था । फिर भी उ
के प्रति सहिष्णुता, उनकी संस्कृति से सहानुभूति
'सुलहकुल' अर्थात् सबसे मेल की नीति ने उसे
अपनाने को प्रेरित किया । आगरे किले का जहां

करी के अनेक महल और लाहौर का किला इस
न है। पुरानी दिल्ली का हुमायूँ का मकबरा, दीव
* खास, जामी मस्जिद, बुलन्द दरवाजा आदि सब
ल्पकला का स्पष्ट प्रभाव है। फर्गुसन ने उचित
फतहपुर सीकरी एक महापुरुष के मस्तिष्क का प्र
ाहजहाँ की सबसे बड़ी कृति ताजमहल है। इस
रानी प्रभाव का प्रावल्य मानते है। इसमे श्वेत
ाचुर प्रयोग किया गया है। साथ ही भारतीय ढग
ौजूद है। सगमरमर और दूसरे पत्थरों में गोटा

, ईरानी तथा पश्चिमी प्रभावों से समन्वित, आश्चर्यजनक
उपम-ताजमहल

, पत्थरों की पच्चीकारी पहले से ही पश्चिमी भा
ारत में मौजूद थी। इन सबसे सिद्ध होता है कि
ीय ईरानी तथा पश्चिमी प्रभावों से समन्वित
के उपज हैं।

अकबर के समय में चित्रकला मे भी आश्चर्यजनक प्रगति
। चित्रकला की भारतीय राजस्थानी शैली उस समय देश में
प रही थी। यह शैली भारत की प्राचीन चित्रकला की युग-
से चलती चली आती प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं को अनुकूल
रस्थिति न रहने पर भी ढो रही थी। इसके निर्माण का भी
ार हो रहा था। अकबर द्वारा तैयार कराई गई हम्जा चित्रा-
ी पर ईरानी प्रभाव अधिक है। पर धीरे-धीरे इस ईरानीशैली
भारतीयकला हावी होने लगी। हम्जा चित्रावली खुद भार-
य तत्त्वों से मंडित है। इसका वास्तु सर्वथा भारतीय है। अक-
के दरबार मे वैष्णव तानसेन के आगमन के समय से भारतीय
र ईरानीशैलियों का घुलन-मिलन जोरों से शुरू हुआ। फतह-
सीकरी की दीवालें भारतीय और ईरानीशैलियों के कला-
रों के संयुक्त श्रम से सजाई गईं। पटना के खुदा बख्श लाइब्रेरी
सुरक्षित "तवारीखे खानदाने तैमुरिया" और जयपुर का महा-
रत इसके उत्कृष्टतम नमूने है। जहांगीर के समय मे भी यह
म्मिश्रण चलता रहा। कहना तो यह चाहिए कि इसके समय में
अपना ईरानी प्रभावों से मुक्त होकर भारतीयशैली के रूप में
कसित हुई। शाहजहाँ के समय मे चित्रकला में ह्रास होने लगा,
ि उसे विशेषतः भवन निर्माण मे रुचि थी। औरंगजेब तो
र्मिक कट्टरता के कारण इसका पूर्ण विरोधी था ही। मुगल-
ल मे लगभग अकबर के समय मे भारतीय संगीतकला में भी
नसेन, बाजबहादुर बैजूबावरा इत्यादि ने नवीन पद्धतियाँ चलाई।
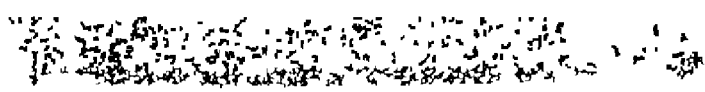
औरंगजेब की विरोधी नीति के कारण मुगलकला में ह्रास के कीड़े लग गये। इससे भारतीय चित्रकला की राजस्थानी शैली को आगे बढ़कर उसका स्थान ले लेने का अवसर मिला। अठारहवी सदी इस शैली के पूर्ण विकास का समय है। भारत के दूर-दूर हिस्सों में इसका प्रचार हुआ। जम्मू, नेपाल, पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात यहाँ तक कि दक्षिण भारत में तंजोर, मैसूर और रामेश्वरम् तक यह शैली फैली। इस प्रकार यह शैली उस समय की हमारी राष्ट्रीय शैली थी। अठारहवी सदी में ही मुगल सम्राज्य के टूटने पर उसके दरबारी कलाओं की एक शाखा ने रावी से पूर्व के कांगड़ा दून वाले क्षेत्र में पहाडी शैली नामक एक नयी शैली का निर्माण किया। यह कश्मीर शैली और मुगलशैली से उत्पन्न एक मिश्रित शैली थी। कहा जाता है कि अजंता युग के बाद भारतीयकला पहाड़ी शैली में ही बहुत कुछ प्राणवन्त हो सकी।

उन्नीसवीं सदी में अंगरेजों की प्रभाव-वृद्धि के साथ-साथ पाश्चात्यकला का भी प्रभाव बढ़ा। यूरोपीय तत्वों का भारतीय शैलियों के साथ सम्मिश्रण शुरू हुआ। चित्रकला में कम्पनी शैली या पटना शैली का विकास हुआ। कलकत्ता के सरकारी स्कूल आफ आर्ट के प्रिंसिपल ई० बी० हैवेल और डा० ए० के० कुमारस्वामी ने भारतीयकला के पुनर्जागरण के लिए बहुत कुछ किया। इस क्षेत्र में इधर सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य भारत

अवनीन्द्र नाथ ठाकुर का है। इन्होंने चित्रकला में एक नवीन शैली—ठाकुर शैली का निर्माण किया है। वस्तुतः यह प्राचीन चित्रकला का पुनरुत्थान है। अवनीन्द्र नाथ ठाकुर में देशी या विदेशी किसी भी भिन्न तत्त्व को पूर्णतः अपना कर उसे भारतीय बना लेने की अपूर्व क्षमता है। इनकी शैली में अजन्ता, मुगल, पहाड़ी आदि देशीय तथा चीनी, जापानी और पश्चिमी शैलियों के विदेशीय तत्त्व आत्मसात होकर एक हो गये हैं। इनकी कला में प्राचीनता और आधुनिकता घुल-मिलकर एक हो गई है। प्राचीनता से सम्बन्ध जोड़ने की जो एक व्याकुलता हमारे हृदयों में थी, वह अब तुष्ट हो सकी है। इसके चित्रण-विषय का दायरा सारे जगत् को घेरे हुए है। यह सारे देश में फैल चुकी है। इस प्रकार यह राष्ट्रीयकला के पद पर सुशोभित हो चुकी है। मूर्त्तिकला में भी चित्रकला की तरह पुनरुत्थान हुआ है। आधुनिक भारतीय स्थापत्यकला दो प्रवृत्तियों से युक्त है। एक भारतीय-शैली पर बने भवन तथा दूसरी पश्चिमी ढाँचे खासकर अमेरिकी ढाँचे की नकल पर निर्मित भवन। संगीत और नृत्य कलाओं पर भी पाश्चात्य प्रभाव प्रबल हो रहा है। भारतीय सिनेमा के रंग-मंच ने पश्चिमी ताल स्वर से युक्त संगीत की लहरें देश के कोने-कोने में व्याप्त हो रही है। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता जैसे नगरों के होटलों में पाश्चात्यानुरूप नाचकर बालडान्स का सितारा बुलन्द है। कुछ भारतीय विचारकों ने इस अन्धानुकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रति चिन्ता व्यक्त की है। किसी भी कला की

अच्छाई को ले लेना बुरी चीज नही है। पर उसकी मोहकता में अपनी कला को बिसारने लगना चिन्तनीय अवश्य है। हर्ष का विषय है कि देश मे अपनी कला के संरक्षण की प्रवृत्ति भी सजग है। नृत्य और नाटक की स्वदेशी शैलियो के पुनरुद्धार के प्रयत्न हो रहे है। दक्षिण भारत में कथाकली के विकास और नव-सस्कार का कार्य चल रहा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्व-भारती, ट्रावनकोर विश्वविद्यालय और केरलकला मंडलम् इस क्षेत्र में काफी सक्रिय है। भारत सरकार का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हो चुका है। कला राष्ट्रीय चरित्र की सच्ची प्रतिच्छाया है। राष्ट्रीय आदर्श के रूप मे भारतीयकला ने शारीरिक सौन्दर्य और भौतिक सुख को सर्वदा नैतिक विचारों तथा आध्यात्मिक आनन्द से गौण सिद्ध किया है। इस प्रकार, इसने आन्तरिक रूप से कोटि-कोटि भारतीयों को अनन्त काल से भावात्मक एकता के सूत्र में बांधे रखा है।

अनेकता में एकता की ब्रिटिश कालीन कहानी

८

राममोहन राय से राधाकृष्णन

★

पिछले अध्यायों में प्रसंगानुसार आधुनिक भारत में हुए
कता में एकता के प्रयासों का जहाँ-तहाँ उल्लेख किया गया है
ये उल्लेख पर्याप्त नहीं है। अनेकता में एकता के प्रयासों की
से ब्रिटिश शासन काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस काल में
नीति, समाज, संस्कृति धर्म भाषा, जाति सभी क्षेत्रों में परस्
गत ऐक्यभाव को और भी पुष्ट करने के भगीरथ प्रयत्न हुए

साथ ही विघटनकारी तत्त्वों में भी पर्याप्त सक्रियता आई। यहाँ इस अध्याय में इनका संक्षिप्त विवरण देना अभीष्ट है।

अंगरेजो ने लगभग २०० वर्षों तक भारत पर शासन किया। जब वे आये, भारत राजनीतिक दृष्टि से छिन्न-भिन्न था। मुगल साम्राज्य के टुकडे-टुकडे हो गये थे। प्रांतीय शासक स्वतंत्र हो गये थे। वे आपस मे लड़-झगड़ रहे थे। सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीयो की जीवनी-शक्ति प्रायः लुप्त होती जा रही थी। उनमें कूपमंडूकता आ गई थी। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में वे पिछड़ गये थे। ऐसे समय मे पश्चिमी जगत् के पुनर्जागरण के आलोक से मंडित और उद्भासित अंगरेज आये। वे औद्योगिक क्रांति से प्राप्त नूतन वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों से लैस थे। उनमे भरपूर जीवनी-शक्ति थी और राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी थी। नवीन राष्ट्रवादी उन्माद से पूर्ण वे संसार के कोने-कोने में साम्राज्य की स्थापना के लिए निकल पड़े थे। साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से भारत की स्थिति उनके अनुकूल थी। अपनी दृढ अनुशासित सैनिक-शक्ति और विलक्षण कूटनीतिज्ञता के बल पर उन्होंने धीरे-धीरे आसेतु हिमांचल भारत पर अधिकार स्थापित किया। भारत के प्रांत एक-एक कर एक केन्द्रीय शासन के सूत्र में गुँथते गये। अशोक और अकबर के बाद प्रथम-प्रथम फिर भारत एक दृढ केन्द्रीय शासन में आबद्ध हो गया। रेल, तार और डाक की व्यवस्था ने भारत की विशालता की समस्या का बहुत कुछ समाधान कर

दिया। अंगरेजों के सम्पर्क के कारण न केवल राजनीतिक दृष्टि से भारत संगठित हुआ, वरन् सांस्कृतिक दृष्टि से भी उसमें नव-जागरण की लहर दौड़ी। भारतवासी पश्चिमी शिक्षा, साहित्य के प्रचार और प्रसार से राष्ट्रीयता तथा स्वतन्त्रता के विचारों से परिचित हुए। उनमें राष्ट्रीय गौरव का भाव उदित हुआ। अपनी प्राचीन महानता और वर्तमान हीनावस्था से परिचित होने पर उनमें स्वाभिमान का भाव जगा। फलत: राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ और प्रत्येक क्षेत्र में नवजागरण की ज्योति फूटी।

अंगरेजो को निस्सन्देह प्रशासनिक दृष्टि से सारे भारत को एक करने का श्रेय प्राप्त है। उनके सम्पर्क में आने से भारतीयों मे नूतन ज्ञान-विज्ञान का आलोक भी फैला। पर अपने साम्राज्य को बनाये रखने के उद्देश्य से उन्होंने स्वाधीनता के लिए संघर्षरत भारतवासियों में उनकी विविधता से लाभ उठाकर, फूट डालकर, शासन करने की जो नीति अपनायी, उससे भारत की अखंडता की जड़ ही लगभग हिल गई। यह एक अत्यन्त मार्मिक प्रसंग है। जैसे-जैसे राष्ट्रवादी शक्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गई और स्वाधीनता का संग्राम उग्रतर होता गया, वैसे-वैसे अंगरेजो ने भारत की विभिन्न जातियों में, धर्मों में आपसी द्वेषभाव जगाकर समन्वय-वादी शक्तियों को कमजोर किया।

१८५७ का सिपाही आन्दोलन भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम था। सात समुन्दर पार से आये हुए अंगरेजों को यहाँ से

निकालने का यह प्रथम राष्ट्रीय प्रयास था। सिपाही क्रांति का यह अखिल भारतीय रूप भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मुगलों के अंतिम बादशाह बहादुरशाह को अपना सम्राट मानकर क्या हिन्दू और क्या मुसलमान स्वतंत्रता-समर में कूद पड़े थे। यह घटना स्पष्ट बतलाती है कि उस समय तक हिन्दू और मुसलमान जातिगत दृष्टि से दो होते हुए भी अखिल भारतीय दृष्टिकोण रखते थे। इसने अंगरेजों की आँखें खोल दीं। वे समझ गये कि साम्राज्य की रक्षा बिना इनमें फूट डाले नहीं हो सकती। फलतः उन्होंने भारत के अल्प संख्यक वर्गों को बढ़ावा देने और उनमें बहुसंख्यक वर्ग के प्रति शंका पैदा करने की नीति अपनायी।

१८५७ की क्रांति के बाद कई दशकों तक राजनीतिक दृष्टि से भारत स्पन्दन रहित-सा मालूम पड़ा। १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। धीरे-धीरे इस संस्था ने अपने नाम के अनुरूप अखिल भारतीय रूप ग्रहण किया। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सब इसके मंच पर स्वाधीनता-संग्राम के सैनिक के रूप में उतरे। इस राष्ट्रीय आंदोलन के क्रम में कई महान् अखिल भारतीय नेताओं का आविर्भाव हुआ। उनमें गोपालकृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक, मौलाना मुहम्मद अली, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्रप्रसाद और मौलाना अबुल कलाम आजाद भारतीय एकता की दृष्टि से उन्नत हैं। सुदूर प्राचीन काल से ही भारतभूमि अखिल भारतीय नेता, दार्शनिक, सुधारक
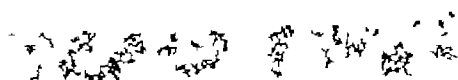
और कवि पैदा करती रही है। राम, कृष्ण, बुद्ध, अशोक, कालि-दास, शंकराचार्य, कबीर, नानक और राममोहन राय भारत के किसी खास प्रांत के नहीं थे, वरन् सारे भारत के थे। तिलक और गाँधी महाराष्ट्र या गुजरात के नही थे, उनमें सारा भारत ओत-प्रोत था और वे सारे भारत में व्याप्त थे। उनका कार्य-क्षेत्र सारा भारत था।

कांग्रेस के प्रारम्भ के नेताओं ने स्वराज्य या स्वतंत्रता की माँग कभी नही की। वे अंगरेजों से सुविधायें चाहते थे, भारतीयो के लिए नौकरियों का द्वार खुलवाना मात्र उनका अभीष्ट था। गोपालकृष्ण गोखले इस नरमवादी नीति के पोषक थे। पर तिलक इस निवृत्तिवादी मार्ग के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि भार-तीय इस नीति पर चलकर कभी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। उन्होंने गीता के कर्मयोग का सारे देश मे उद्घोष किया और बतलाया कि गीता हमें निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति का मार्ग प्रदान करती है। अर्जुन ने अपने सामने युद्ध की विभीषिका देख उससे अरुचि दिखलायी। कृष्ण ने उसे क्षात्र-धर्म का सार बतला कर कर्म करने की ओर प्रवृत्त किया। इस महामन्त्र के जयघोष से भारतीयो की अकर्मण्यता भाग खड़ी हुई और तिलक के नेतृत्व मे उन्होंने "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" का नारा लगाया। उनके इस नारे से आसेतु हिमाचल सुप्त भारतवासी अँगड़ाई लेते हुए उठ खड़े हुए और भारतमाता की मुक्ति के लिए

स्वतंत्रता-समर में कूद पड़े। राष्ट्रीय एकता का नाद हिमालय के उत्तुङ्ग शिखरों से समुद्रों की लहरों तक गूँजने लगा।

तिलक के बाद गाँधी जी ने उनका उत्तरदायित्व ग्रहण किया। गाँधी वह महाशक्ति, महाप्राण, महामानव थे जिनके कार्यों का उल्लेख असंभव है। भारतीय जीवन का कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जिस पर उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव नही पड़ा हो। वास्तव में गाँधी जी भारतमय हो गये थे और भारत गाँधीमय हो गया था। उनका अनेकान्तवादी दृष्टिकोण उस महासागर के समान था जिसमें नाना वाद-विवाद, मत-मतान्तर, आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, धर्म-कर्म, भाषा-साहित्य, दर्शन-चिन्तन, राष्ट्रीयता-अन्तर्राष्ट्रीयता की सरिताएँ आकर एकाकार हो जाती हैं। भारतीय एकता के वे जीवन्त प्रतिमूर्ति थे और सारे विश्व की विविधता में एकता स्थापित कर एक विश्वमानवता के स्वप्नद्रष्टा थे। गाँधी जी ने देश के हृदय-स्थल सेवाग्राम में अपना आश्रम स्थापित किया। भारत के इस केन्द्रीय स्थान से वे देशवासियों का हृदय स्पन्दन सुनते थे और उनका दिव्य सन्देश वहाँ से कोटि-कोटि जनता तक पहुँचता था। वास्तव में वे युग-युग की सयोजनशील भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे। उन्होंने देश के सभी वर्गों, दलों, धर्मों, जातियों, भाषाओं एवं क्षेत्रों के बीच समन्वय स्थापित कर एक राष्ट्रीय मोर्चा बना कर अंगरेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष किया। उनकी प्रार्थना-सभा

मे गीता, कुरान, बाइबिल, ग्रन्थ साहिब सबका पाठ होता था और उसमें श्रद्धा सहित सभी सम्प्रदायो के लोग शामिल होते थे ।

अंगरेजों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की उठती हुई तरंगों को शान्त करने के लिए जो क्रमिक संवैधानिक सुधार किये, उनका असर दो तरफी था । १९०९ मे मार्ले-मिंटो सुधार घोषित किये गये । उनसे एक ओर भारत में संघात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की ओर प्रवृत्ति दिखाई पड़ी तो दूसरी ओर पहले-पहल मुसलमानो को अपना अलग प्रतिनिधि चुनने का हक मिला । भारत की विशालता को देखते हुए संघात्मक शासन प्रणाली की उपयुक्तता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । अंगरेजों ने धीरे-धीरे भारत को संघीय शासन प्रणाली की ओर प्रवृत्त किया, इसके लिए अवश्य उनकी सराहना की जायेगी । पर मुसलमानो को अलग प्रतिनिधि चुनने का हक देकर उन्होंने मुस्लिमलीग के दो राष्ट्रवाले सिद्धान्त को जन्म दिया । यद्यपि मुस्लिमलीग का जन्म उनकी अनुमति से १९०६ मे हो चुका था, पर हिन्दुओं और मुसलमानो के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खीचने का प्रयास इसके द्वारा शुरू हुआ ।

१९१२ में अंगरेज भारत की राजधानी कलकत्ते से उठाकर दिल्ली ले आये । दिल्ली भारत की प्राचीन परम्परागत राजधानी रही है । अंगरेजों ने वहां राजधानी ले जाकर उसकी उपयुक्तता

स्वीकार की। इससे देश को एक सूत्र में समेटने में बल मिला। पर ऐसा उन्होंने अपनी प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से किया।

१९१९ मे प्रथम महायुद्ध के बाद फिर सुधारों की घोषणा हुई। इनके अनुसार केन्द्र और प्रांत के विषयों को अलग-अलग विभाजित किया गया और इस प्रकार संघीय शासन की ओर भारत कुछ और आगे बढा। पर इस बार मुसलमानों के अतिरिक्त सिक्खों और यूरोपियनों को पृथक् प्रतिनिधि चुनने का हक मिला भारत के शरीर मे साम्प्रदायिकता के विष को प्रवेश कराने का यह दूसरा बड़ा प्रयत्न था। धीरे-धीरे साम्प्रदायिक उन्माद उभाडने की यह प्रक्रिया चलती रही। १९३१ मे दूसरा गोलमेज सम्मेलन लंदन में हुआ। अंगरेजों की "फूट डालो और शासन करो" की नीति अब तक बहुत सफल हो गई थी। इस सम्मेलन में हिन्दू और मुसलमान का प्रश्न इस प्रकार उठा कि दोनो मे समझौता नही हो सका। फलत: ब्रिटिश प्रधान मंत्री मैकडोनल्ड ने अपना इतिहास प्रसिद्ध "साम्प्रदायिक निर्णय" दिया। इसके अनुसार विधान सभा में भिन्न-भिन्न धर्मों के सदस्यों की संख्या नियत कर दी गई। इस निर्णय का सबसे खतरनाक अंश था दलित जातियों को हिन्दुओ से अलग निर्वाचनाधिकार दिया जाना। यह साम्प्रदायिक निर्णय न केवल हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ाने का प्रयत्न था, बल्कि खुद हिन्दुओं को भी कई टुकड़ों मे बांट कर सदा के लिए निष्प्राण कर देने का घृणित कुचक्र था। भारत की सांस्कृतिक एकता के प्रतीक, आसेतु हिमाचल एक भारतीय राष्ट्र

के द्रष्टा, विश्वमानव के महान् आदर्श के प्रणेता, युग-पुरुष महात्मा गाँधी की आत्मा भारतमाता के शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर देने की इस योजना से तड़प उठी। उन्होंने १८ अगस्त, १९३२ को इस निर्णय के विरुद्ध आमरण अनशन की घोषणा की। सारा भारतराष्ट्र क्षुब्ध हो उठा और बापू के प्राणों की रक्षा के लिए दौड़ पड़ा। अन्त मे नेताओं ने पूना में दलितों के लिए विधान सभाओ में कुछ स्थान सुरक्षित रखने का सिद्धान्त निश्चित किया। अंगरेजी सरकार ने इसको मान लिया और पृथक् निर्वाचन की बात छोड़ दी। इस प्रकार गाँधीजी ने हिन्दुओ को विभाजित करने की अंगरेजों की चाल को विफल कर दिया।

१९३५ मे संवैधानिक सुधारों की दृष्टि से अंगरेजों ने बहुत बड़ा कदम उठाया। ब्रिटिश पार्लियामेंट में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट (१९३५) पारित हुआ। इस ऐक्ट के अनुसार यह निश्चय हुआ कि भारत में एक संघ-शासन स्थापित किया जाये। इस संघ मे ब्रिटिश भारत के प्रान्त और देशी रियासत दोनों के शामिल होने की बात थी। केन्द्र और प्रान्त के अधिकारो का विभाजन कर तीन सूचियाँ बनाई गईं—संघ सूची, प्रान्तीय सूची और सम्मिलित सूची। एक संघीय न्यायालय की स्थापना हुई, जिसका काम संघ, प्रान्त और उसमें सम्मिलित हुई देशी रियासतो के बीच के झगड़ों का निपटारा करना था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत ने जो अपना नया संविधान बनाया है, उसमें संघ-शासन की योजना इसी १९३५ के ऐक्ट की देन है। वास्तव में संघ-

शासन-प्रणाली की ओर भारत को प्रवृत्त करने का जो कदम अंगरेजों ने १६०६ मे उठाया, उसको पूर्णता १६३५ में मिली। इसमें अनेकता में एकता स्थापित करने की प्रवृत्ति को पूरा बल मिला। पर इस ऐक्ट में भी पृथक् निर्वाचन प्रणाली को ही मान्यता दी गई। यह प्रणाली देश के लिए सांघातिक सिद्ध हुई। इसके चलते हिन्दुओं और मुसलमानो में पृथकता का भाव उमड़ आया जिसके फलस्वरूप भारत का विभाजन हुआ।

राष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्व में भारत की संयोजनकारी शक्तियों में जो उभाड़ आया, सक्रियता आई; उसका कारण केवल इन नेताओं का प्रयास ही नहीं था। इस काल मे सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों मे भी क्रांति की लहर दौड़ी। ब्रह्मसमाज, आर्य-समाज, थियोसाफिकल सोसायटी आदि संस्थाएँ भारतीय जनता मे सांस्कृतिक नवचेतना की ज्योति बिखेर रही थीं। राममोहन राय, महादेव गोबिन्द रानाडे, दयानन्द सरस्वती, परमहंस राम-कृष्ण और विवेकानन्द जैसे महामनीषी नवोत्थान का शंख फूँक रहे थे। इन महात्माओं ने तत्कालीन समाज की बुराइयों के मूलोच्छेद के लिए ही संघर्ष नही किया, वरन् सांस्कृतिक और धार्मिक समन्वय द्वारा भारतीय एकता की भावना को पुष्ट किया। बल्कि यों कहा जाये कि इन लोगों ने जाति, धर्म, देश और भाषा की संकुचित परिधि से ऊपर उठकर विश्वमानव, विश्वधर्म की उदात्त भावनाओं का उद्घोष किया तो अधिक उपयुक्त होगा।

भारतीय नवोत्थान की जो लहर उठी, उसका प्रवर्त्तन राजा राममोहन राय ने अठारहवी सदी में किया। गीता का यह वचन कितना सत्य है कि जब धर्म का पतन और अधर्म की वृद्धि होती है, तब ससार में ऐसी आत्माओं का आविर्भाव होता है जिन्हे अवतार कहते है। राममोहन राय भी ऐसी ही आत्माओं मे एक थे। उन्हे भारतीय नवोत्थान का आदि पुरुष कहा गया है। उन्होंने अपने समय मे ईसाइयत का प्रचार होते देखा और ईसाइयों द्वारा भारतीय धर्मों की निन्दा सुनी। यूरोप के क्रांतिकारी बुद्धिवादी विचारो के सम्पर्क मे वे आये। हिन्दुओं को नाना धार्मिक मत-वाद, मूर्ति पूजा, सती-प्रथा आदि के मोहपाश में आबद्ध उन्होने पाया। फारसी, अरबी के अध्ययन और ईसाइयों के सम्पर्क से उन्हें उनके एकेश्वरवाद का परिचय मिला। इन सब से प्रभावित होकर और युग की आवश्यकता समझ कर उन्होंने "ब्रह्मसमाज" की स्थापना की। ब्रह्मसमाज तत्कालीन सभी धर्मों से सार अंश लेकर स्थापित किया हुआ एक समाज (संस्था) था। सभी धर्मों के प्रति सद्भावना और उदारता उसकी विशेषता थी। उसकी पूजा में किसी भी सजीव या निर्जीव वस्तु की निन्दा जिसकी आराधना थोडे-से लोग भी करते हो, वर्जित थी। इसमें केवल ऐसे ही उपदेश दिये जाते थे, जिनसे सभी धर्मों के लोगों के बीच एकता, समीपता और सद्भावना की वृद्धि होती हो। वास्तव में [illegible]ज इस बात में विश्वास करता था कि संसार के सभी धर्म [illegible] हैं और सब लोग आपस में भाई-बहन हैं।

इन उदात्त विचारों के कारण ब्रह्मसमाज को आशातीत सफलता मिली और सारे भारत में उसकी धूम मच गई। भारत वासी संकीर्णता की परिधि से बाहर निकल विश्वबन्धुत्व की तरंगों में तरंगित होने लगे। राममोहन राय केवल भारत के नह रह गये, सारे विश्व के हो गये। उनकी विश्व-मानवता का वृ बहुत अधिक विस्तृत था। उसमें सम्पूर्ण पृथ्वी की स्वाधीन समृद्ध, पराधीन और दलित जातियों के लिए समान स्थान था उन्होंने स्वयं फ्रांस के विदेश मंत्री को एक बार पत्र लिखते हु कहा था—"केवल धर्म से ही नहीं, वरन् अदूषित साधारण बु और विज्ञान से भी यही ज्ञान होता है कि सारी मनुष्य जाति ए परिवार है तथा जो अनेक जातियाँ और राष्ट्र है, वे उसी ए परिवार की शाखाएँ हैं।" राममोहन राय की आत्मा भारती थी, जो उपनिषदों के विचार स्वातन्त्र्य से स्पन्दित होती थी उसकी दृष्टि पश्चिम की ओर उन्मुख थी, जो वहाँ के वैज्ञानि बुद्धिवाद से प्रभाव ग्रहण करती थी। सब मिलाकर उन्होंने जि विश्ववाद का शंख फूँका, उसकी प्रतिध्वनि तब से गूँजती आज भी भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू के अ राष्ट्रीयतावादी विचारो में सुनाई पड़ती है। वास्तव में नेहरू अठारहवी सदी के राममोहन राय के बीसवी सदी के परिमार्जि और परिष्कृत रूप हैं।

राममोहन राय के बाद महाराष्ट्र में महादेव गोविन्द रान और गुजरात में दयानन्द सरस्वती का उदय हुआ। रानाडे

प्रार्थनासमाज के द्वारा महाराष्ट्र में नवोत्थान का क्रम जारी रखा। प्रार्थनासमाज ब्रह्मसमाज का ही एक रूपान्तर था वह जाति-प्रथा का विरोधी था। वह जन्मना ऊँच-नीच के भेद-भाव को मिटाना चाहता था। वह स्त्री-शिक्षा का समर्थक और पुरुष-स्त्री की समानता का पोषण करना चाहता था। रानाडे ने सारे महाराष्ट्र में प्रगतिशील विचारों की जो लौ सुलगायी, वह महा-राष्ट्र तक ही सीमित नही रही। सारे भारत में वह लौ छिटकी। दयानन्द सरस्वती का उदय भारत के आकाश में जलते हुए सूर्य के समान हुआ। उस सूर्य की प्रचड किरणों से जर्जर हिन्दू-समाज की रूढियाँ, अन्धविश्वास और नैराश्यभाव का कुहासा फट कर छिन्न-भिन्न हो गया। वे सुधारकमात्र नहीं थे। वे क्रांति के वेग से आये और उन्होंने घोषणा कर दी कि मूर्त्ति-पूजा, अवतारवाद, जाति-पाँत, छुआछूत, धार्मिक कर्मकांड ये सब अवैदिक हैं और इसलिए त्याज्य हैं। उन्होने शुद्धि का भी प्रचार किया। इन उद्देश्यो की सिद्धि के लिए उन्होंने "आर्यसमाज" की स्थापना १८७५ में की। आर्यसमाज ने सारे उत्तर भारत में सुधारों का डंका पीट दिया और उसके जयघोष से शिथिल जर्जर निराश हिन्दू जाति फिर एक बार कमर कसकर तनकर खड़ी हो गई।

प्रगतिशील उदार विचारों को प्रश्रय देने और उनके प्रचार-प्रसार कार्य के लिए भारतीय थियोसाफिकल सोसायटी कम महत्व नहीं रखती। उन्नीसवी सदी में भारत में तीन धर्म-हिन्दू, इस्लाम और ईसाई आपस में टकरा रहे थे। थियोसाफिकल

सोसायटी वह मंच थी जिस पर सभी धर्मों के अनुयायी अपने धर्मों को मानते हुए एकत्र हो विचारों का आदान-प्रदान कर सकते थे। इसका उद्देश्य सभी धर्मों में समन्वय है। एक थियोसाफिस्ट मानता है कि धर्म का मुख्य तत्त्व उसका वाह्याचार नही, वरन् वह अंश है जिससे आदमी परमात्मा की निकटता प्राप्त करता है। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है जिसका ध्येय है कि सभी धर्मों में जो समान तत्त्व हैं, उन्हें लेकर इनके बीच एकता स्थापित की जाए। इस सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क में १८७५ में एक रूसी महिला हेलेना पेट्रोवना ब्लेवास्की तथा दूसरे एक अमेरिकन सज्जन कॉलोनल आलकाट के संयुक्त प्रयास से हुई थी। १८७९ में ये दोनों भारत पधारे और सोसायटी का कार्य प्रारम्भ किया। पीछे चलकर जब १८९३ में श्रीमती एनीबीसेंट भारत आईं तो इस सोसायटी का कार्य-भार उन्होने सँभाला। उनके नेतृत्व में इसकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। श्रीमती बीसेंट एक कुलीन अंगरेज महिला थीं। एक अंगरेज महिला होते हुए भी उन्होंने भारत की जो सेवा की, वह अतुलनीय है। उनके समर्थ नेतृत्व में सोसायटी ने धार्मिक उदारता का वातावरण तैयार करने में बहुत सफलता प्राप्त की। राममोहन राय ने विश्व-मानवता की जो भेरी फूँकी थी, उसकी जो प्रतिध्वनि चारों ओर गूँज रही थी, उसमें इस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन ने और भी ओजस्विता भर दी।

रही थी, उसकी गति को परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द और सर्वपल्ली राधाकृष्णन जैसे मनीषियों ने और भी तीव्रता प्रदान की। परमहंस रामकृष्ण कोई आन्दोलनकारी नेता नहीं थे। राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रानाडे आदि की तरह उन्होंने न कुछ लिखा, न वक्तव्य दिया और न भाषण। उन्होंने सभी धर्मों के मूल-तत्त्वों को अपने जीवन में साकार करके संसार को यह सन्देश दिया कि सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जाने वाले विविध मार्ग हैं। उन्होंने हिन्दुओं के सभी मार्गों के अतिरिक्त इस्लाम और ईसाई धर्मों की भी साधना की। वे बारी-बारी से वैष्णव, शैव, शाक्त, मुसलमान और ईसाई बने और इस प्रकार उन्होंने दिखा दिया कि धर्मों के बाहरी रूप तो केवल बाहरी रूप हैं। भारत की धार्मिक समस्या के समाधान का यह मार्ग था।

स्वामी विवेकानन्द, परमहंस रामकृष्ण के धर्म को व्यवहारिक रूप देना चाहते थे। भारतीय एकता का महत्व उन्होंने भली-भाँति समझा था और इसलिए उन्होंने प्रत्येक भारतीय को संगठित होकर केवल एक भारतमाता की आराधना का सन्देश दिया था। उन्होंने अथर्ववेद के उस मंत्र का स्मरण सबको दिलाया जिसका अर्थ है—"मन से एक बनो, विचार से एक बनो।" १८९८ ई० में उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"हमारी जन्म-भूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम, मिलकर एक हो जाएँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग

से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।" कितना क्रांतिकारी विचार था वह और कितना आवश्यक ? काश! स्वामी जी का सपना साकार हुआ होता तो भारत कभी खंडित नहीं हो पाता और राममोहन राय का विश्ववाद फलीभूत हो जाता। फिर भी उन्होंने एकता का जो सन्देश भारतीयों को दिया, वह अमर है। भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में उन्होंने राष्ट्रीयता का बीज वपन किया और वह बीज आज वृक्ष के रूप में परिणत होकर पुष्पित पल्लवित हो रहा है।

अरविन्द आरम्भ में देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत नेता के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने 'वन्देमातरम्' नामक अपने पत्र द्वारा उग्र राष्ट्रीयता का प्रचार और प्रसार किया। पीछे चलकर वे एक महान् साधक बन गये और राममोहन राय ने जिस विश्ववाद का सन्देश दिया था, उसको उन्होंने जाग्रत रूप दिया। उनका विश्वास था कि पूर्व और पश्चिम के समन्वय से जिस संस्कृति का उदय होगा, वह अखिल विश्व के लिए कल्याणकारिणी होगी। सांस्कृतिक समन्वय की इस धारा के वर्तमान पोषक, संरक्षक और उत्प्रेरक सर्वपल्ली राधाकृष्णन विश्व के कोने-कोने में अपनी अद्भुत वाणी द्वारा इसका जयघोष सुना रहे हैं। उनकी सबसे बड़ी महानता इस बात में है कि उन्होंने दर्शन के स्तर पर सांस्कृतिक समन्वय को मूर्तिमान करने का प्रयास किया है। उनके पूर्व तक साहित्य, कला, धर्म आदि में समन्वय होता आ रहा था। उन्होंने दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में

भी इस समन्वय की सुगंधि फैलायी। राधाकृष्णन वेद, कुरान, बाइबिल, जेन्दावेस्ता और त्रिपिटकों में बताये धार्मिक मतों पर जोर नही देते। वे उस धर्म पर विशेष जोर देते हैं जिस पर ईसाई, हिन्दू और मुसलमान बिना विवाद के चल सकते हैं और जो सभी धर्मों के मूल मे निहित है। राधाकृष्णन पूर्व और पश्चिम के समस्त सत्य और शिव को समेट कर विश्व को दार्शनिक एकता का सन्देश दे रहे हैं। आज एक बार फिर दक्षिण भारत ने सांस्कृतिक दिग्विजय का शंख फूँका है, जिसका निनाद हिमालय के गगनचुम्बी शिखरों से टकराकर न केवल सारे भारत में गूँज रहा है, बल्कि सारे भूमंडल में उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड रही है। उनके इस सांस्कृतिक दिग्विजय ने शंकराचार्य के बाद एक बार फिर इस कथन को गलत सिद्ध कर दिया है कि उत्तर भारत सदा दक्षिण भारत पर छाया रहा।

राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों मे राष्ट्रीय एकता का जो दिव्य संगीत-स्वर इस काल में सारे भारत में गूँजा, उसकी अभिव्यक्ति अनेक-अनेक कविमनीषियों ने साहित्य के क्षेत्र में भी की। उन्होंने भारतीयों का ध्यान भारतमाता के आसेतु हिमांचल विराट दिव्यरूप की ओर आकर्षित किया और उनमें उसके प्रति गौरव का भाव जगाया। भारत के पूर्वी शस्यश्यामल अंचल बंगभूमि से बंकिमचन्द्र ने भारतीयों को भारतमाता का दिव्य-दर्शन कराया—
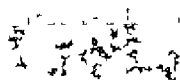
वन्दे मातरम्।

सुजलां सुफलां मलयजशीतलां

शस्यश्यामलां मातरम्। वन्दे मातरम्।

शुभ्र ज्योत्स्ना पुलकित यामिनीं

फुल्ल कुसुमित द्रुमदल शोभिनीं

सुहासिनी सुमधुरभाषिणीं

सुखदां वरदां मातरम्। वन्दे मातरम्।

राष्ट्रीय आन्दोलन काल में यह गान अखिल भारतीय गान बन गया। कोटि-कोटि भारतवासी वन्देमातरम् के उच्च स्वर से प्रेरित और स्पन्दित होने लगे। उसी अंचल से कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत के विराट स्वरूप के दर्शन किये और अपनी अनुभूति को शब्दों के तार में गूँथ जन-गण का आख्यान किया। वे भारत के विभिन्न प्रांत, पर्वत, सरिता और समुद्र पर अनुरक्त थे और अपनी इस अनुरक्ति की अभिव्यक्ति उन्होंने इस प्रकार की—

जन-गण-मन-अधिनायक जय हे

भारत-भाग्य-विधाता।

पंजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा द्राविड़, उत्कल, बंग।

विन्ध्य, हिमाचल, यमुना, गंगा, उच्छल जलधि तरंग॥

तव शुभ नामे जागे,

तव शुभ आशिष मांगे,

गाहे तव जय-गाथा।

जन-गण-मंगलदायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता।

इतना ही नहीं, उन्होंने भारत में बसने वाली अनेक जातियों को भारतमाता की एक ही सन्तान के रूप में देखा। उनमें एक ही प्रकार के भावों की गंगा बहती हुई दिखाई पड़ी।

अहरह तव आह्वान-प्रचारित, सुनि तव उदार वाणी।
हिन्दु, बौद्ध, सिख, जैन, पारसिक, मुसलमान, खिस्तानी॥
पूरब, पश्चिम आसे,
तव सिंहासन पासे,
प्रेम-हार हय गाथा।
जन-गण ऐक्य-विधायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता।

भारतीय एकता के इस अमर गायक को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। सुदूर अतीत से भारतीय जीवन की विविधता में एकात्मकता की जो सनातन गंगा-कावेरी धारा बहती चली आ रही है, उसके कलकल स्वर ने उन्हें आन्दोलित, स्पन्दित और झंकृत कर दिया और उनके हृदय से कविता की नैसर्गिक निर्झरिणी फूट पड़ी :

हे मोर चित्त, पुण्य तीर्थे जागो रे धीरे,
एई भारतेर महामानवेर सागर-तीरे।
केह नाहि जाने, कार आह्वाने, कत मानुषेर धारा,
दुर्वार स्रोते एलोको थाहते, समुद्रे हलो हारा।

हेथाय आर्य,

धारा बाहि, जय गान गाहि, उन्माद कलरवे,
मरु-पथ, गिरि-पर्वत यारा एसेछिलो सबे।
ा मोर माझे सवाई विराजे केहो नहे नहे दूर,
ार शोणिते रयेछे ध्वनित तारि विचित्र सूर।

ुकता की कितनी गहरी अनुभूति है ! कवि का
क यह भारत देश महा मानवता का पारावार है।
ाने कहाँ-कहाँ से किसके आह्वान पर मानवता की
ाएँ बहती हुई आई और इस महासागर मे समा कर
हाँ आर्य, अनार्य, द्राविड़ और चीनी-वंश के भी लोग
ूण, पठान और मोगल इस देश में आये और सबके
शरीर में समा कर एक हो गये। आज उनमें से किसी
ा अस्तित्व नही है, जो समय-समय पर यहाँ युद्ध की
हुए और विजयोन्माद के गीत गाते हुए मरुभूमि को
था पहाड़ों को लाँघकर आये; वे सब मेरे भीतर
हैं और सबका सुर मेरे रक्त में ध्वनित हो रहा है।
ंस्कृति की सामाजिकता का इतना स्वाभाविक और
ण चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। कवीन्द्र रवीन्द्र की गह
दृष्टि भारत तक ही नही सीमित थी। वे तो विश्व-
ासक थे। उनकी दृष्टि मे निखिल विश्व भ्रातृत्व के
में बँधा था। उनका शान्ति निकेतन "वसुधैव कुटुम्ब-
ोता जागता स्मारक है।

भारत-शिरोमणि-हिमालय के पादप्रान्त आल्मोड़ा में बैठे-बैठे हिन्दी के यशस्वी कवि सुमित्रानन्दन पंत की दृष्टि आसेतु हिमाचल ग्राम-वासिनी भारत-माता पर पड़ी। समुद्र से कितने हजार फुट ऊँचे आसन पर दक्षिणाभिमुख आसीन कवि प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध हो रहा था कि उसने अपने सामने सहसा पराधीनता के पाश में आबद्ध दीना-हीना भारत-माता की करुण प्रतिमा देखी और उसकी आत्मा चीत्कार उठी :—

भारत-माता ग्रामवासिनी !
खेतों में फैला है श्यामल,
धूल भरा मैला-सा आँचल,
गंगा-यमुना में आँसू-जल,
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी !

तीस कोटि सन्तान नग्न तन,
अर्द्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक तरु-तल निवासिनी !

कवि ने भारत की महान् नदियों गंगा-यमुना में भारत-माता के आँसू-जल को प्रवाहित होते देखा और उसकी तत्कालीन तीस करोड़ सन्तानों की हीनावस्था देखी। उसके इस मार्मिक गान ने आसेतु हिमाचल करुणा की धारा बहा दी और इसके द्वारा अखिल भारतीय एकता का राग सारे भारत में गूँज उठा।

अखिल भारतीय एकता के भावों से युक्त कविताओं की सृष्टि क्षेत्रीय बोलियों में भी भावुक कवियों ने की। उनमें भोजपुरी के अमर कवि रघुवीर नारायण की "बटोहिया" कविता सुप्रसिद्ध है। कवि का हृदय एक ओर कोतवाल हिमवान और तीन ओर घहराते हुए समुद्र की मोहिनी छटा देख उमड़ पड़ा—

> सुन्दर सुभूमि भैया भारत के देसवा से,
> मोरे प्रान बसे हिमखोह रे बटोहिया।
> एक द्वार घेरे राम हिम कोतवलवा से,
> तीन ओर सिन्धु घहरावे रे बटोहिया॥

लगता है जैसे कवि भारतमय हो गया है। उसमें और भारत में कोई भेद नहीं रह गया है। दोनों एकाकार हो गये हैं।

इस काल के मुसलमान कवियों में सर मोहम्मद इकबाल अपनी राष्ट्रीय रचनाओं द्वारा भारतीय नवोत्थान के सुर में सुर मिला रहे थे। उनकी प्रसिद्ध कविता—

> "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
> हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलसिताँ हमारा"

सारे देश में नव-जागरण की दुन्दुभी बजा रही थी। पर खेद है कि सर इकबाल [illegible] भटक गये और साम्प्रदायिकता के पंक में जा फँसे। मुस्लिम लीग के पाकिस्तान आन्दोलन के व्यामोह से वे अपने को न बचा सके। पर फिर भी कुछ राष्ट्रवादी मुसलमान कवि मैदान में डटे रहे और उनका मजहब राष्ट्रीयता में बाधक नहीं हुआ। इनमें अकबर इलाहाबादी नजरुल इस्लाम जमील

मजहरी, सागर निजामी और सीमाब अकबराबादी प्रमुख हुए जमील मजहरी बिरादराने नौजवानों को हिन्द की आजादी की लड़ाई में आगे बढ़ने के लिए ललकारते रहे—

विरादराने नौजवाँ, बढ़े चलो, बढ़े चलो।
झुके न हिन्द का निशां, बढ़े चलो, बढ़े चलो।
जो अक्ल राह रोक दे तो दामन उसका छोड़ दो,
जो मजहब आके टोक दे तो उसको कैद तोड़ दो।
जवाँ हो दर से जंग लो, सलामे-मौजे-गंग लो,
नजर फिरालो तूर से, बुला रही है दूर से,
हिमालया की चोटियाँ, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

कवि मजहब की कैद को भी मुल्क के लिए तोड़ देने की सलाह देता है। वह मुसलमानों को मुसलमान रहते हुए भी तूर से नजर फिरा कर हिमालय की चोटियों की उपासना का संदेश देता है।

सागर निजामी की कविताओं में भी राष्ट्रीयता के भाव जोर से लहराते हैं। वे भारत को अपनी जन्म-भूमि मानते हैं और इस पवित्र जन्म-भूमि की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए सिर तक कटाने को तैयार है।

तेरी हस्ती हिमालय की चोटी बनी,
माहो खुर्शीद की उस पै बिन्दी लगी।
रौशनी शर्क से गर्ब तक हो गई,
सिजदे में झुक गई अजमते-जिन्दगी।

अजमते-जिन्दगी की कसम है हमें,
तेरी इज्जत पै सर तक कटा देगे हम।
आँख उठा के जो देखा किसीने तुझे,
छावनी अपनी लाशों से छा देगे हम।

सीमाब अकबराबादी अपने प्यारे भारत वतन के लिए सब कुछ करने को तैयार हैं। उनको वतन में ही जीना है, वतन मे ही मरना है और एक दिन उस वतन के लिए ही जिन्दगी को कुर्बान कर देना है।

वतन में मुझको जीना है, वतन में मुझको मरना है,
वतन पर जिन्दगी को एक दिन कुरबान करना है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि मुस्लिम लीग के पाकिस्तान आन्दोलन ने अधिकतर मुसलमानों को राष्ट्रीयता के पथ से भटका दिया, फिर भी जायसी, कबीर, रहीम और रसखान की एकता प्रेरक अमरवाणी लुप्त नहीं हुई। महान् अकबर, दारा शिकोह और बहादुर शाह की मेल-जोल की परम्परा का चिराग गुल नहीं हुआ। अनेक-अनेक राष्ट्रीयता पोषक मुसलमान कवियों की देशभक्ति-पूर्ण कविताओं की ओजस्विनी वाणी झंकृत होती रही और धर्मान्धता तथा संकीर्णता के विरुद्ध विद्रोह का बिगुल बजाती रही।

इन सभी महापुरुषों के अनवरत प्रयासो के फलस्वरूप सारे भारत में राष्ट्रीय एकता की जो लहर दौड़ी, अंगरेज उसको

अधिक दिनों तक रोक कर नहीं रख सकते थे। १९२५ के शासन विधान को भारतीयों ने ठुकरा दिया था। १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध शुरू हो गया था। १९४२ के "भारत छोड़ो आन्दोलन" की व्यापकता का अनुभव वे कर रहे थे। पर अपने सारे शासन-काल मे साम्प्रदायिकता के जिस विष-वृक्ष को वे सींचते रहे थे, उसमे फल लगना भी शुरू हो गया था। मि०जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग भारत-विभाजन की माँग कर रही थी। अंगरेजो के लिए भारत को स्वाधीन कर देना जितना अनिवार्य हो गया था, उतना ही अनिवार्य उन्होंने भारत-विभाजन को बना दिया था। भारतीय नेताओ को भी स्थिति की अनिवार्यता देखते हुए किसी भी मूल्य पर स्वाधीनता शीघ्र ले लेने में ही लाभ दिखाई पड़ रहा था। फलत. १९४७ का भारतीय स्वतंत्रता कानून ब्रिटिश संसद द्वारा पारित हुआ। तदनुसार भारत और पाकिस्तान दो देशों के रूप मे स्वतंत्र घोषित किये गये।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या यह विभाजन संयोजनकारी शक्तियों की पराजय और विघटनकारी शक्तियों की विजय है? उत्तर सीधा है। भारत ने कभी विघटनकारी शक्तियों के सम्मुख घुटने नहीं टेके। इसके विभाजन से भले ही ऐसा लगता हो कि विघटनकारी शक्तियों की विजय हुई, पर हिमालय से कन्या-कुमारी और सिन्धुघाटी से ब्रह्मपुत्रघाटी तक विस्तृत भारत भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक और सुरक्षात्मक दृष्टियों से सदैव एक रहा और फिर एक दिन आयेगा जब अपनी आवश्यकताओं

तथा सदियों से साथ-साथ रहते आने से उत्पन्न भाई-चारे की स्वाभाविक भावनाओं से प्रेरित हो एक ही उपमहादेश के दोनो खंडों के लोग परस्पर प्रेम-भाव से गले मिलेगे एवं अपना एक महासंघ बनाकर समान रुचि के विषयो पर समान व्यवस्था स्थापित कर क्षेत्रीय स्वतन्त्रता का पूर्ण उपभोग करते हुए शक्ति, सुख और प्रगति के पथ पर साथ-साथ आगे बढ़ेंगे। अनेकता मे एकता स्थापित करने वाली शक्तियाँ, भारत के भूगोल, इतिहास और संस्कृति की उपज हैं। वे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती ही रहेगी।

वास्तव मे यह विभाजन तो अंगरेजो द्वारा अपने लम्बे शासन काल मे धीरे-धीरे भारत के शरीर मे भरे गये साम्प्रदायिकता के विष का परिणाम था। १७५७ से लेकर १९४७ तक "फूट डालो और शासन करो" की जो नीति भारतीय शासन में बरती जाती रही, उससे जो स्थिति पैदा हो गई, उसकी अन्तिम परिणति के रूप में विभाजन का आना अनिवार्य था। वस्तुतः १९४७ के स्वतंत्रता कानून ने भारत को और भी कई टुकड़ो में बाँट दिया होता, यदि बचे हुए हिस्से की सारी राष्ट्रीय और संयोजक शक्तियों को समेट कर उसके संघटन और पुनर्निर्माण में भारतीय न जुट जाते। उक्त कानून के अनुसार भारत के सभी देशी राज्य स्वतंत्र घोषित कर दिये गये थे और भारत या पाकिस्तान में शामिल होना या न होना उनकी इच्छा पर छोड़ दिया गया था। इस प्रकार अंगरेजों ने भारत के भीतर छोटे स्वतन्त्र राज्यों की सृष्टि कर

ही थी। पर यह तो भारतवासियों की परम्परागत महान् सांस्कृतिक एकता की विरासत ही थी, जिसने उस संकटकाल में भारत को खंड-खंड होने से बचा लिया और आसेतु हिमाचल देश एक केन्द्रीय शासन के दृढ़ सूत्र में बँधकर विश्व के मानचित्र पर अपना अस्तित्व कायम रख सका। गाँधी, नेहरू, राजेन्द्र, पटेल और आजाद जैसे अपने महान् राष्ट्रीय नेताओं के समर्थ नेतृत्व में छिन्न-भिन्न होने की स्थिति में आया हुआ भारत सँभल गया और भारतीयों ने अपना ऐसा नया संविधान बनाया जिसमें एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना सारी केन्द्राभिमुखी शक्तियों को बटोर कर की गई। अनेकता में एकता के सभी तत्वों का उसमें समावेश किया गया। इस संविधान के अन्दर रहकर आज भारतवासी विभिन्न धर्म, भाषा, प्रान्त, जाति के होते हुए भी अखिल भारत की भावना से प्रेरित हो एक राष्ट्र के रूप में विश्व के सम्मुख अपने महान् प्राचीन सामाजिक आदर्श का उद्घोष कर रहे हैं। आज से हजारों वर्ष पहले ही हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद ने भारत जैसे विभिन्नताओं से युक्त देश के लिए समष्टिवादी सामाजिक जीवन का आदर्श निरूपित कर दिया था। उसके निम्नलिखित मंत्रों को जीवन में उतारते हुए भारतवासी चलते रहेंगे तो भारत की विविधता कभी उसकी प्रगति के मार्ग में बाधक नहीं हो सकेगी।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे सं जानाना उपासते ॥ (१०।१९१।२)

अर्थात्, हे मनुष्यों! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्यशक्तियो से सम्पन्न सूर्य, चन्द्र, पवन, अग्नि आदि देवता परस्पर अविरोध भाव से, मानों प्रेम से अपने-अपने कार्य करते है, ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों मे लग जाओ, एक मत होकर रहो और परस्पर सद्भाव बरतो।

समानो मंत्रः समितिः समानी
समान मनः सह चित्तमेषाम्। (१०।१६१।३)

तुम्हारी मंत्रणा में, समितियों में, विचारों में और चिन्तन मे समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य और दुर्भावना न हो।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानिवः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(१०।१६१।४)

तुम्हारे अभिप्रायों में, तुम्हारे हृदय मे और तुम्हारे मनो मे एकता की भावना रहनी चाहिये, जिससे तुम्हारी सांघिक और सामुदायिक शक्ति का विकास हो सके।

भारतीय संविधान में अनेकता में एकता १

★

पिछले अध्याय में हम भारतीय संविधान के निर्माण की चर्चा कर चुके हैं। १५ अगस्त १९४७ को भारत अंगरेजी शासन से मुक्त हुआ। स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माण के लिए संविधान-सभा का संगठन हुआ। इस संविधान-सभा द्वारा निर्मित भारत का संविधान २६ जनवरी १९५० को लागू हुआ। इसके अनुसार भारत एक विशेष प्रकार के संघात्मक शासन के अधीन सार्वभौम स्वतंत्र गणतंत्र राज्य स्थापित हुआ। आसेतु हिमांचल

भारत के सभी प्रांत एक शक्तिशाली केन्द्रीय-शासन के सूत्र मे गुँथ कर एकाकार हो गये। नाना भाषाओ, धर्मों, प्रातो तथा जातियों वाले इस विशाल भारत को इस सविधान ने एक संयुक्त परिवार के रूप मे बदल दिया। "विविधताओं के बावजूद भारत एक और अखड है"—यह तथ्य मूर्तिमान हुआ। सविधान की प्रस्तावना में ही इस तथ्य की उद्घोषणा की गई। उसमें स्पष्ट कहा गया कि भारत के समस्त लोग चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के मानने वाले हों, अपनी परम्परागत विशिष्टताओं को अक्षुण्ण रखते हुए एक और अखंड बन्धुत्व के प्रेम-सूत्र मे पिरोए हुए हैं। प्रस्तावना में घोषित किया गया है—

"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए,

तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपसना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए;

तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए।

दृढ़ संकल्प होकर अपनी संविधान-सभा में ता० २६ नवम्बर १९४९ (मिति मार्ग-शीर्ष शुक्ला सप्तमी, सं० २००६ वि०) के दिन आज एतद् द्वारा इस संविधान को अपनाते हैं, कानून बनाते हैं और आत्मार्पित करते हैं।"

संसार के किसी संविधान में शायद ही इतने उदात्त और उदार आदर्शों का समावेश एक-साथ किया गया हो। 'अनेकता में एकता' जो भारतीय संस्कृति की आत्मा है—यहाँ जीवन्त और साकार हो उठी है।

राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भारतीयों को समानता, धार्मिक स्वतन्त्रता तथा संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी जो मौलिक अधिकार संविधान ने प्रदान किये हैं—वे बहुत अधिक महत्व के हैं। धर्म, जाति, वर्ण और लिंग के आधार पर नागरिकों में कोई भेद-भाव नहीं माना गया है। कुएँ, तालाब, सड़क, घाट, पार्क, होटल या जलपान-गृह का प्रयोग बिना किसी बाधा के सभी नागरिक कर सकते हैं। समानता की स्थापना के उद्देश्य से अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। यहाँ तक कि बड़े-छोटे का भेद-भाव दर्शित कराने वाली पदवियों और उपाधियों के वितरण का भी निषेध किया गया है। अल्प संख्यकों की शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी हितों की रक्षा की व्यवस्था संविधान में की गई है। अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति की रक्षा करने का अधिकार सबको प्राप्त है। संविधान ने स्पष्टतः भारत को एक धर्म निरपेक्ष देश घोषित किया है। राज्य स्वयं किसी धर्म विशेष को प्रधानता अथवा सहायता प्रदान नहीं करेगा; धर्म के आधार पर किसी व्यक्ति या संस्था को कोई सहायता नहीं प्रदान की जाएगी।

भारतीय संविधान संघात्मक है, पर उसमें एकात्मक संविधान

के अनेक तत्त्व सुरक्षित रखे गये हैं। इस प्रकार भारत का संविधान एक विशेष प्रकार का संघात्मक संविधान है। संघात्मक संविधान में संघ और राज्य के लिए शासन और सरकार की दोहरी व्यवस्था होती है। दोनों ही अपने-अपने दायरे मे स्वतंत्र और पृथक् होते हैं। परन्तु भारतीय संविधान मे एक दोहरापन बहुत कम कर दिया गया है। देश मे अमेरिका की तरह संघ और राज्य की न्याय पालिकाएँ अलग-अलग नही हैं। भारत का उच्चतम न्यायालय देश की न्यायपालिका का प्रधान है और हर प्रकार के मुकदमो के अन्तिम निर्णय करने का अधिकार उसे ही प्राप्त है।

सघात्मक शासन होते हुए भी भारत का केन्द्र अत्यन्त शक्तिशाली है। राष्ट्रपति राज्यों के राज्यपाल नियुक्त करते हैं। राज्यपाल को राज्य सरकार नही हटा सकती। वह केन्द्र का आदमी होता है। अमेरिका में राज्यपाल का राज्य की जनता द्वारा निर्वाचन होता है, इसलिए उस पर राष्ट्रपति का उतना नियंत्रण नही होता। भारत के किसी राज्य का राज्यपाल राज्य के विधान मंडल द्वारा स्वीकृत किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचार और स्वीकृति के लिए भेज सकता है। ऐसी दशा में राष्ट्रपति को स्वीकार या अस्वीकार करने का पूरा अधिकार है।

भारतीय सविधान की तीन [illegible] संघ-सूची में ९७ विषय हैं, राज्य-सूची में ६६ और समवर्ती सूची में ४७ [illegible]

संघ-सूची के विषयों की संख्या स्पष्ट बतलाती है कि राज्यों से कहीं अधिक केन्द्र के अधिकार हैं। इनके अतिरिक्त समवर्ती सूची के सभी विषयों पर संघ सरकार को प्राथमिकता और प्रधानता प्राप्त है। इन तीन सूचियों के अलावा अवशिष्ट अधिकार संघ को प्राप्त हैं। राज्य-सूची में लिखित किसी भी विषय पर कानून बनाने और उसे अपने अधिकार-क्षेत्र में शामिल करने का अधिकार संघ सरकार को है, यदि राज्य सभा दो तिहाई मत से यह प्रस्ताव पारित कर दे कि अमुक विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है। संकट काल में संघ सरकार अपने अधिकार में राज्य सरकार की सब शक्तियों को ले सकती है। उस समय भारत में पूरी तरह एकात्मक शासन स्थापित हो सकता है। यदि राष्ट्रपति यह अनुभव करें कि किसी राज्य में शासन का संचालन संविधान की धारा के अनुसार नहीं हो रहा है तो उस राज्य का शासन वे अपने हाथ में ले सकते हैं और उसके विधान मंडल के सब अधिकार संसद को प्रदान कर सकते हैं। किसी भी राज्य को संघ से अलग हो जाने अथवा स्वयं संघ बना लेने का अधिकार नहीं है। भारत की एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही ये अधिकार संघ को दिए गए हैं। संविधान ने संघ को अविभाज्य बनाया है।

अखिल भारत की भावना को बल देने के उद्देश्य से संविधान ने अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था की है। एक संघीय लोक सेवा आयोग का गठन भी किया गया है। संघ सरकार के लोक

सेवक राज्य सरकार के काम भी सँभालते हैं। संघ-सरकार राज्य-सरकार के किसी भी अधिकारी को किसी प्रकार का काम सौंप सकती है। राज्य-सरकार के लोक-सेवकों के लिए संघ-सरकार के आदेशों का मानना आवश्यक है।

संविधान में समस्त देश के लिए विधि (कानून) और दड-विधान के सम्बन्ध में एकरूपता रखी गई है। एक ही निर्वाचन-आयोग और एक ही महालेखा परीक्षक-संघ और राज्यों के क्रमशः निर्वाचन और आर्थिक व्यवस्था की देख-रेख करते हैं। भारतीय सघ मे दोहरी नागरिकता नहीं है। भारत के किसी भी राज्य का कोई भी नागरिक भारत का नागरिक है। वह उस खास राज्य का नागरिक नहीं। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था है। वहाँ के किसी राज्य का नागरिक उस राज्य का भी नागरिक है और सारे संयुक्त राज्य अमेरिका का भी। भारत में समस्त भारत की भावना को पुष्ट करने के लिए ही ऐसी व्यवस्था की गई है।

भारतीय संविधान में परिवर्त्तन का अधिकार राज्य-सरकारों को नहीं है। यह अधिकार भारतीय संसद को प्राप्त है। अखिल भारत की एकता की सुरक्षा और एक भारत की भावना को बल देने के उद्देश्य से यह व्यवस्था की गई है। सम्पूर्ण देश के लिए एक राजभाषा की व्यवस्था संविधान के भाग १७ में की गई है। उसमें घोषित किया गया है कि संघ की "राजभाषा

हिन्दी और लिपि देवनागरी" होगी। समस्त भारत के लिए एक ही संविधान है। अलग-अलग राज्यों का अलग कोई संविधान नहीं। इस प्रकार एक संविधान, एक नागरिकता और एक राष्ट्र-भाषा द्वारा सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण किया गया है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद अँगरेजी शासन को विरासत के रूप में भारत के सामने कुछ ऐसी समस्याएँ उपस्थित हो गई थीं, जिनसे विघटनकारी तत्त्वों को बल मिलता था। उन समस्याओं में देशी रियासतों और साम्प्रदायिकता की समस्याएँ प्रमुख थी। सारे देश में ६०० से भी अधिक देशी रियासतें थीं। इन सबको भारतीय स्वतंत्रता-कानून में स्वतंत्र या भारत-संघ में शामिल होने की स्वतंत्रता दी गई थी। यह एक प्रकार से भारत को खंड-खंड करने का प्रयास था। पर सरदार वल्लभ भाई पटेल के सफल नेतृत्व में इस समस्या का समाधान निकल आया। सभी रियासतें एक-एक कर भारतीय संघ में शामिल हो गईं। भारत का संविधान सारे भारत के ब्रिटिश प्रांतों और देशी रियासतों को भारत का अभिन्न अंग मानकर बनाया गया और भाषा के आधार पर सारे देश के पुनर्गठन का सिद्धान्त निश्चित किया गया। इसके अनुसार पीछे राज्य-पुनर्गठन-आयोग का निर्माण हुआ और इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर भाषावार राज्यों का निर्माण हुआ। इस प्रकार देशी रियासतें भारत के मानचित्र में विलीन हो गई और देश खंड-खंड होने से बच गया।
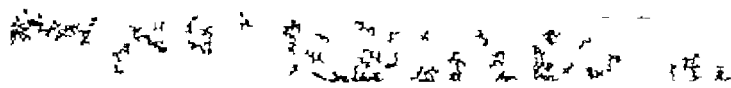
दूसरी प्रमुख समस्या साम्प्रदायिकता की थी। अँगरेजों ने मुसलमानों को विधान-मंडलों में साम्प्रदायिक निर्वाचन के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया था। साथ ही उन्होंने साम्प्रदायिक आधार पर विधान-मंडलों में विभिन्न जातियों के स्थान सुरक्षित रखने की प्रथा चलाई थी; भारतीय राष्ट्रीयता को इन व्यवस्थाओं से कितनी गहरी चोट पहुँची थी, इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। भारत के संविधान-निर्माताओं को इसका कटु अनुभव था। इन व्यवस्थाओं का अन्त होना भारतीय एकता के लिए अनिवार्य था। फलतः भारतीय संविधान मे साम्प्रदायिक निर्वाचन और विधान-मंडलों में स्थानों के सुरक्षित रखने की प्रथा को स्थान नही दिया गया और संयुक्त-निर्वाचन की प्रथा चला दी गई। भारत से साम्प्रदायिकता के विष को निकालने की दिशा में यह एक बहुत बड़ा कदम था।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान ने सारी समन्वयशील और संयोजनकारी शक्तियों को समेट कर एक सुदृढ भारतीय राष्ट्र की स्थापना की है। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक तथा अकबर को जिस कार्य को करने में आंशिक और अस्थायी सफलता मिली, उसी कार्य को आज के भारत ने पूरा कर दिखाया है। यदि भारतवासी छोटे-मोटे क्षेत्रीय वाद-विवादों में न पड़कर और भाषा, धर्म, जाति तथा प्रान्त के दायरे से ऊपर उठकर [illegible] भारत-भावना से प्रेरित हो कार्य करते रहेंगे, तो वह दिन दूर नहीं, जब भारत विश्व के महत्तम शक्तिशाली, सुखी और समृद्ध राष्ट्रों मे

गिना जायगा। आज आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम अपनी मातृभूमि की महिमा और गौरव-गरिमा को न भूलें। सिन्धु से ब्रह्मपुत्र और हिमपति से भारत महासागर तक फैले विस्तृत विशाल प्रिय भारत देश की महिमा का गान हमारे महान् प्राचीन ग्रन्थो ने भी किया है। हम उन्हे स्मरण रखें और उनको जीवन मे उतारें। देखिए ऋग्वेद, जन्मभूमि भारत का गान किस उदात्त भाव से करता है :—

सितासिते सरिते यत्र सगथे
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्व विसृजन्ति धीरा-
स्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥ (ऋग० खिल)

अर्थात् वैदिक और वैदिकेतर दोनो धाराएँ जिनमे समन्वित होती हैं, उस भारतीय सस्कृति की धारा में स्नान करनेवाले दिव्य-ज्योति को प्राप्त होते हैं। भारत मे रहनेवाले ज्ञानी मनुष्य शरीर छोडने पर अमृतत्व का सेवन करते हैं।

भागवत मे भी भारत की महिमा का स्पष्ट उल्लेख है—

अहो भुव सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत्। (भागवत, ५।६।१३)

अर्थात्, अहो! सात समुद्रोवाली इस पृथ्वी के सभी द्वीपो और वर्षो मे भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र स्थान है।

ऐसे महान्, प्राचीन और गौरव-मडित देश की सन्तान अपने देश की एकता और अखडता की रक्षा के लिए सर्वस्व होम कर देगी। जय भारत।